मुक्तिबोध

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोधन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ--रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। उनके नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का यह सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली।

भारतीय साहित्य के निर्माता

मुक्तिबोध

नन्दकिशोर नवल

साहित्य अकादेमी

Muktibodh : A monograph in Hindi by Nand Kishore Naval on the Hindi poet. Sahitya Akademi, New Delhi (1998) Rs. 25.

प्रथम संस्करण : 1996
पुनर्मुद्रण : 1998

साहित्य अकादेमी

मुख्य कार्यालय
रवीन्द्र भवन, फीरोज़शाह रोड़, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
जीवन तारा बिल्डिंग, चौथी मंजिल, 23 ए/44 एक्स,
डायमंड हार्बर मार्ग, कलकत्ता 700053
गुना बिल्डिंग, दूसरी मंजिल, 304-305, अन्ना सलाई, तेनामपेट,
चेन्नई 600018
172, मुम्बई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400014
ए डी ए रंगमन्दिर, 109, जे० सी० मार्ग, बैंगलोर 560002

ISBN 81-260-0018-x

मूल्य : पच्चीस रुपये

मुद्रक : मोना इन्टरप्राईज़ज, दिल्ली-110 032

अनुक्रम

दो शब्द

मुक्तिबोध पर विस्तार से लिख चुकने के बाद उन्हें संक्षेप में सामान्य पाठकों के लिए प्रस्तुत करना मेरे लिए एक कठिन काम था। मुझे उन्हीं के एक लेख का शीर्षक याद आया–'डबरे पर सूरज का बिंब!' यह काम मेरे लिए स्फूर्तिदायक भी नहीं था, लेकिन वह शुरू करते ही मुक्तिबोध ने तुरत मुझे अपने प्रभाव-वृत्त में खींच लिया और पुनः उन्हीं का शब्द लेकर कहें, तो मैं 'विद्युन्मय' हो उठा। पाठक इस विनिबंध को पढ़ेंगे, तो मुझे विश्वास है, वे भी कुछ वैसा ही महसूस करेंगे।

इस विनिबंध में तीन लंबे-लंबे लेख हैं, जिनमें क्रमशः मुक्तिबोध के जीवन, चिंतन और सृजन का परिचय दिया गया है। उनका जीवन-वृत्त तैयार करना मेरे लिए विशेष रुचिकर रहा है, क्योंकि वह एक अत्यंत अभावग्रस्त और संघर्षरत हिंदी लेखक का वृत्त है। ख़ास बात यह कि यह जीवन में अखंड आस्था रखनेवाला लेखक था। वीरेंद्रकुमार जैन को मुक्तिबोध ने एक पत्र में लिखा था : 'ज़िंदगी बड़ी तल्ख़ है, लेकिन मानव की मिठास का क्या कहना। जी होता है सारी ज़िंदगी एक घूँट में पी ली जाए।' इसी तरह उन्होंने नेमिचंद्र जैन को भी लिखा था, संकट के क्षणों में कुछ सुखद दृश्य याद आने पर, 'लगता है कि जैसे मैं फिर प्रेम में पड़नेवाला हूँ, जीवन के।' हिंदी में मुक्तिबोध का जो जीवन-वृत्त सुलभ है, उसमें तथ्यसम्बंधी अनेक भूलें हैं और उसकी कड़ियाँ अनेक जगहों पर टूटी हुई हैं। मैंने अनुसंधानपूर्वक यथासंभव भूलों को दुरुस्त करने और टूटी हुई कड़ियों को मिलाने की कोशिश की है। मेरा ध्यान इस बात पर भी रहा है कि जीवन-वृत्त तथ्यसंग्रह-मात्र बनकर न रह जाए और उसमें मुक्तिबोध के आंतरिक व्यक्तित्व की झलक अवश्य मिले, जिससे उनके रचनाकार का सम्बंध है।

रचनाकार होने के साथ-साथ मुक्तिबोध चिंतक भी थे। समाज से लेकर काव्य तक पर उन्होंने अत्यंत गहन और सुसंबद्ध चिंतन किया है, जिसका संक्षिप्त विवरण विनिबंध के दूसरे लेख में दिया गया है। इस सम्बंध में जो बात उल्लेखनीय है, वह यह कि वे सुदृढ़ मार्क्सवादी थे, लेकिन पूर्णतः रूढ़िमुक्त और सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में मार्क्सवाद को सृजनात्मक ढंग से विकसित करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील। उनके साहित्यिक चिंतन का एक तात्कालिक संदर्भ भी था–एक तरफ़ नई कविता और दूसरी तरफ प्रगतिशीलता। उन्होंने दोनों प्रकार की आलोचना लिखी, सैद्धांतिक भी और व्यावहारिक भी। ज़्यादा सैद्धांतिक, कम व्यावहारिक।

इनके द्वारा उन्होंने कविता में ग़लत रुझानों के विरुद्ध संघर्ष किया और सही प्रगतिशील कविता का मार्ग प्रशस्त करने की भरसक चेष्टा की। उनकी व्यावहारिक आलोचना का स्मारक उनकी 'कामायनी : एक पुनर्विचार' नामक पुस्तक है। विनिबंध के दूसरे लेख में मुक्तिबोध के सैद्धांतिक चिंतन पर दृष्टि केंद्रित की गई है, यद्यपि उसमें 'पुनर्विचार' का हवाला भी अनेक स्थलों पर दिया गया है। सैद्धांतिक चिंतन पर दृष्टि केंद्रित करने का कारण यह है कि वह उनके रचनाकर्म की पृष्ठभूमि भी है और उसका फल भी।

मुक्तिबोध मूलतः कवि थे, लेकिन आलोचना के साथ-साथ उन्होंने कुछ कहानियाँ और 'विपात्र' नामक एक लघु उपन्यास भी लिखा है। जैसे उनकी आलोचना उनकी कविता का ही अंग है, वैसे ही उनका कथासाहित्य भी। उनकी कहानियाँ अनेक बार उनकी कविता का प्रक्षेपण मालूम पड़ती हैं। तीसरे लेख में यथास्थान मुक्तिबोध के कथासाहित्य का ज़िक्र किया गया है। उनके सांसारिक जीवन को देखकर तो नहीं लगता कि उनका सृजनात्मक जीवन इतना भव्य और असाधारण था—कीचड़ में प्रदीप्त कमल की तरह। लेकिन यह सच्चाई है और उसकी मिसाल उनके पूर्ववर्ती कवियों में सिर्फ़ निराला में मिलती है। मुक्तिबोध की कविता को लेकर हिंदी में तुमुल विवाद की स्थिति रही है। उन पर यह आरोप लगाया गया है कि वे अस्तित्ववाद और रहस्यवाद से काफ़ी कुछ प्रभावित थे। उनकी कविता स्वयं इस आरोप का आगे बढ़कर खंडन करती है। उनकी शब्दावली का ग़लत अर्थ लगाकर और उनकी पंक्तियों को आधे-अधूरे रूप में उद्धृत कर उन्हें क्रांतिकारी यथार्थवादी की जगह अस्तित्ववादी और रहस्यवादी नहीं सिद्ध किया जा सकता, बल्कि इनके विरुद्ध तो अपनी रचना और विचार दोनों में उन्होंने अनथक संघर्ष चलाया है। तीसरा लेख मुक्तिबोध के सृजनात्मक कृतित्व का अपनी सीमाओं के भीतर पूरा चित्र उपस्थित कर सकेगा, ऐसी आशा है। ऊपर परिचय देने की बात कही गई है। यह परिचय यत्किंचित् विश्लेषणात्मक भी है, यद्यपि इसका पूरा ध्यान रखा गया है कि वह कहीं भी बोझिल न हो।

जीवनवृत्त वाला लेख तैयार करने में मुझे डा. शिवमंगल सिंह 'सुमन', श्री नेमिचंद्र जैन और श्री रमेश मुक्तिबोध से विशेष सहायता प्राप्त हुई है। उसके लिए मैं इनके प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। लेख की स्वच्छ प्रति मेरे एक शोधछात्र पंडित विनयकुमार ने तैयार की। वे मेरे साधुवाद के पात्र हैं।

गुलबीघाट, पटना–6

नंदकिशोर नवल

1
जीवन

अंग्रेजों का राज आने पर उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में मुक्तिबोध के परदादा वासुदेवजी जलगाँव (खानदेश, महाराष्ट्र) छोड़कर ग्वालियर आ बसे थे। उसके श्योपुर नामक मुरैना जिले के एक कस्बे में। जन्मस्थान छोड़ने का कारण था जीविका की खोज। ग्वालियर उन दिनों मध्यभारत का एक देशी राज्य था। जलगाँव में वासुदेवजी की थोड़ी-बहुत पैतृक संपत्ति भी थी, लेकिन वे एक बार वहाँ से निकल गए, तो फिर उधर का रुख नहीं किया। मंदिर वगैरह के बँटवारे को लेकर बाद में वहाँ से कुछ लोग एक-दो बार मुक्तिबोध के दादा या पिता के पास पहुँचे थे। उनका उद्देश्य लिखत-पढ़त को दुरुस्त कराना था। लेकिन उससे टूटा सम्बंध जुड़ने में कोई मदद नहीं मिली। शादी-विवाह के अवसर पर जलगाँव से सिर्फ एक अडावतकर-परिवार का आना-जाना उनके यहाँ बना रहा। समय के साथ वह भी समाप्त हो गया।

कहा जाता है कि जलगाँव में वासुदेवजी को स्वप्न में यह संदेश मिला था कि वे नर्मदा से 'हरि' और 'हर' के द्योतक दो पवित्र पत्थर प्राप्त करें। अगले दिन वे नर्मदा में स्नान करने गए और वहाँ से उक्त दोनों पत्थर अपने घर ले आए। 'हरि' की स्थापना जलगाँव में एक मंदिर बनवाकर की गई, जिसे 'मुक्तबोध मंदिर' के नाम से जाना जाता है। 'हर' यानी शिवलिंग को वासुदेवजी अपने साथ ग्वालियर ले आए थे। उनके समय में उसकी दिन में तीन बार पूजा की जाती थी। कोई खुशी का मौका या कोई पर्व-त्योहार हुआ, तो पूजा का विशेष आयोजन लाजिमी था। माधवरावजी की इच्छा से वह पत्थर, जिसकी विशेषता बतलाई जाती थी कि उसका रंग बदलता रहता था, उनके कनिष्ठ पुत्र चंद्रकांत मुक्तिबोध के घर में प्रतिष्ठित रहा। मुक्तिबोध ने 'एक स्वन-कथा' शीर्षक अपनी चर्चित कविता में अपने एक पूर्वज द्वारा नदी से तेजस्वी शिलाखंड प्राप्त करने और उसे अपने घर में देवता की तरह स्थापित करने की घटना का जिक्र किया है।

ग्वालियर एक पुराना मराठा राज्य था, जिसमें ग्यारह जिले थे। ब्रिटिश इंडिया और ग्वालियर राज्य की स्थितियाँ अलग-अलग थीं। ब्रिटिश इंडिया में उग्रतापूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम चल रहा था। उसकी तुलना में ग्वालियर का जीवन शांत और स्थिर था। उसमें कोई बड़ी हलचल न थी। मुक्तिबोध के दादा गोपालराव

वासुदेव ग्वालियर राज्य के टोंक नामक स्थान में, जोकि फिलहाल राजस्थान में है और जिला है, दफ्तरदार यानी ऑफिस सुपरिंटेंडेंट थे। उन्हें फारसी की अच्छी जानकारी थी, इस कारण वे 'मुंशी' कहकर पुकारे जाते थे। उनके और भी भाई थे, जो संभवतः विरक्त थे। उनके सम्बंध में इससे अधिक कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। मुक्तिबोध के पिता माधवराव मुक्तिबोध, जो गोपालरावजी के एकमात्र पुत्र थे, रियासत में सबइंस्पेक्टर थे, जिसे प्रायः कोतवाल कहा जाता था।

महाराष्ट्र में 'मुक्बिोध' किसी अन्य परिवार की वंशोपाधि नहीं। आज मुक्तिबोध के परिवार के लोगों को भी ठीक-ठीक नहीं मालूम कि यह उपाधि उन्हें कहाँ से और कैसे प्राप्त हुई। अनुमान से इसका सम्बंध 'मुक्तबोध' नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ से हो सकता है, जिसकी रचना समर्थ गुरु रामदास के ग्रंथ 'दासबोध' के समानांतर या उसी की परंपरा में इस परिवार के किसी पूर्वज ने की होगी, जिससे उसे इसी नाम से जाना जाने लगा। उस ग्रंथ के सम्बंध में कोई पक्की सूचना नहीं मिलती, लेकिन यह निश्चित है कि 'मुक्तबोध' वंशोपाधि मुक्तिबोध के परिवार में पहले से चली आ रही थी। उन्होंने और उनके छोटे भाई शरच्चंन्द्र मुक्तिबोध ने, जोकि मराठी के एक प्रतिष्ठित कवि हैं, इसका इतना संस्कार अवश्य किया कि अब यह शब्द उनके परिवार में 'मुक्तिबोध' के रूप में प्रयुक्त होने लगा।

पिता के नामसहित मुक्तिबोध का पूरा नाम हिंदी में सुपरिचित है—गजानन माधव मुक्तिबोध। वे 13 नवम्बर, 1917 को श्योपुर में ही पैदा हुए। उनकी जन्मपत्री के अनुसार, जोकि नागपुर के प्रसिद्ध ज्योतिषी सीताराम कान्होजी पाटिल के पास सुरक्षित थी, रात के दो बजे। यह जन्मपत्री उनके पिता ने बनवाई थी, क्योंकि ज्योतिष में उनका विश्वास था। मुक्तिबोध ने वह अनिलकुमार को उक्त ज्योतिषी से दिखलाने के लिए दी थी। मूल रूप में वह उन्हीं के पास रह गई। माधवरावजी की नौकरी ऐसी थी कि उनका तबादला होता ही रहता था। उस समय वे श्योपुर में ही पदस्थापित थे। मुक्तिबोध की शैशवावस्था की एक घटना यह है कि जब वे छः महीने के रहे होंगे, एक बंदर उन्हें झूले पर से उठा ले गया था। सिपाही किसी तरह उसे खपरैल के छप्पर पर लाने में सफल हुए। फिर वह उन्हें वहीं छोड़कर चला गया। मुक्तिबोध ने इस घटना का जिक्र भी अपनी 'विक्षुब्ध बुद्धि के मारक स्वर' शीर्षक कविता में भिन्न ढंग से किया है। वे अपने माता-पिता की तीसरी संतान थे। वे लोग अपने दो पुत्र पहले खो चुके थे, इसलिए इस पुत्र पर स्वभावतः उनका अत्यधिक अनुराग था। इस कारण उनका लालन-पालन बहुत ही स्नेह और सँभाल के साथ किया गया।

शाम को उन्हें बाबागाड़ी में हवा खिलाने के लिए बाहर ले जाया जाता।

सात-आठ की उम्र तक अर्दली ही उन्हें कपड़े पहनाते थे। उनकी सभी जरूरतों का ध्यान रखा जाता रहा, उनकी हर माँग पूरी की जाती रही। बाद में घर में और भी बच्चे आए, लेकिन उन्हें माता-पिता से उन-जैसा लाड़-प्यार न मिला। उनके दादा भी उन्हें बहुत ज्यादा मानते थे। उनकी नौकरी जिस गाँव में होती, वे महीना-दो महीना वहाँ रह आते और मेवा-मिठाई से अपना सत्कार कराए बिना प्रसन्न न होते थे। कोतवाल का रुतबा और भी ज्यादा था। उज्जैन की सेंट्रल कोतवाली, जिसकी दूसरी मंजिल पर माधवरावजी का आवास था, सर सेठ हुकुमचंद का महल था। यह महल उन्होंने अपने रहने के लिए बनवाया था, लेकिन उसे महाराजा ग्वालियर को भेंट कर दिया था। वहाँ की सुविधाओं का क्या कहना ! किसी बात की कमी नहीं। मुक्तिबोध जब कुछ बड़े हुए तो माता की आज्ञा से उन्हें 'बाबूसाहब' कहकर पुकारा जाने लगा। पिता का भी ऐसा ही आग्रह था। बाबूसाहब हर तरह से विशिष्ट थे। वे परीक्षा में सफलता प्राप्त करते, तो घर में उत्सव मनाया जाता और उन्हें बहुत इज्जत बख्शी जाती। इस अतिरिक्त लाड़-प्यार और राजसी ठाट-बाट का यह परिणाम हुआ कि बालक का मन कुछ बढ़ गया, जिससे प्रकृति से वह हठी और जिद्दी हो गया।

मुक्तिबोध के पिता माधवरावजी बहुत ही दबंग आदमी थे। कर्तव्यपरायण और न्यायनिष्ठ। पुलिस विभाग आरंभ से ही भ्रष्टाचार के लिए बदनाम रहा है, लेकिन उसमें रहकर भी उन्होंने हमेशा परले दर्जे की ईमानदारी का परिचय दिया। अनेक बार उन्हें प्रलोभनों से डिगाने की कोशिश की गई, लेकिन वे अडिग रहे। कहते हैं, वे कीचड़ में कमल की तरह थे। उनके कुछ अपने विश्वास और मान्यताएँ थीं, जिन्हें लेकर उन्होंने कभी कोई समझौता नहीं किया। उन्हें इन विश्वासों और मान्यताओं की आलोचना भी बर्दाश्त नहीं थी। कुलकर्णी ब्राह्मण, धार्मिकता से भरपूर। अपने नैतिक मूल्यों का दृढ़तापूर्वक निर्वाह उन्होंने जीवनपर्यंत किया। यह आकस्मिक नहीं है कि मुक्तिबोध ने आगे चलकर उन पर दो कविताएँ लिखीं और एक में कहा :

> पितः, तुम्हारी वीर-जीवन-इतिहास-कथा
> देती है मेरी प्रेरणाओं की दिशाएँ बता
> आँसू पोंछ जातीं वे
> धीरज बँधातीं वे
> संग्राम का शिल्प मुझे अचूक सिखा जातीं वे
> संघर्ष में मुझे देतीं सत्य की महान् व्यथा।

माधवरावजी ग्वालियर रियासत के मुलाजिम थे, लेकिन खुशामद और चापलूसी से सख्त नफरत करनेवाले। अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए वे अपनी

नौकरी तक की पहवाह नहीं करते थे। एकबार एक अंग्रेज़ अधिकारी सुबह-सुबह ही कोतवाली आ पहुँचा। वे नित्यकर्म से निवृत्त होकर ही उसका स्वागत करने के लिए आए। तब तक वह बाहर अपने घोड़े पर ही टँगा रहा। उनके इसी स्वभाव का परिणाम था कि योग्यताएँ रखकर भी वे पदोन्नति के मामले में पिछड़े रहे और अंत में उन्होंने सेवा-काल के विस्तार की सुविधा का फ़ायदा भी नहीं उठाया। अवकाश-प्राप्ति के बाद उनकी आर्थिक स्थिति विषम हो उठी थी, फिर भी वे कहीं सिफारिश के लिए नहीं गए। बाबूराव सूर्यवंशी, जो कलक्टर के पद पर थे, स्वयं उनके पास यह प्रस्ताव लेकर आए थे कि वे डिग्थान (धार) की जागीर के सर्वोच्च पुलिस अधिकारी का पद स्वीकार कर लें। उनसे ये शर्तें मनवाकर ही कि उनके काम में कोई दखल नहीं देगा और उन्हें कोई अनैतिक काम करने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा, वे थोड़े दिनों के लिए उस जागीर की नौकरी पर गए। वे जितने नैतिक थे, उतने ही अनुशासनप्रिय। उनके सम्बंध में यह धारणा गलत है कि वे राजभक्त थे। राजभक्त वे कतई न थे। हाँ, नियम-कानून के सख्त अवश्य थे।

माधवरावजी को सिर्फ मिड्ल तक की शिक्षा मिली थी, लेकिन अपने पिता की तरह वे भी फारसी के जानकार थे। धर्म और दर्शन में उनकी गहरी रुचि थी। अंग्रेज़ी जमाने में भी वे महात्मा गाँधी का हृदय से आदर करते थे और अपनी नौकरी के आरंभिक दिनों में लोकमान्य तिलक के पत्र 'केसरी' के ग्राहक थे। वे बहुत अच्छे किस्सागो भी थे। रोजनामचा लिखते, तो चित्र खड़ा कर देते। उनके पास समृद्ध अनुभव था। वे उसका वर्णन करते, तो जैसे सब कुछ प्रत्यक्ष हो उठता। एक फाँसी का किस्सा वे इसी तरह सुनाया करते थे। शायद मुक्तिबोध को उन्हीं से कथा-रचना का संस्कार प्राप्त हुआ।

वे अंतिम दिनों में अपने द्वितीय पुत्र शरच्चंद्र मुक्तिबोध के यहाँ थे, नागपुर में। बीमार। उन्हें मुक्तिबोध की अस्वस्थता और उन्हें भोपाल से दिल्ली ले जाए जाने का समाचार मिल चुका था। घर के लोगों को उदास देखकर वे धैर्यपूर्वक उनसे पूछते थे, 'अरे, वह चला गया क्या?' उनका विश्वास था कि वेदांत की विधि से मंत्रों का उच्चारण करते हुए प्राणों का त्याग किया जा सकता है। अंतिम रात उन्होंने सबों को आराम करने के लिए कहा, फिर सुबह होते-होते इस दुनिया से कूच कर गए। यह मुक्तिबोध की मृत्यु के दिन की ही घटना है। वे उन्हें हद से ज्यादा प्यार करते थे। क्या यह निरा संयोग है कि वे उनकी मृत्यु का समाचार सुनने के लिए जीवित न रहे और उससे पहले स्वयं मृत्यु का वरण कर लिया?

मुक्तिबोध की माता पार्वतीबाई हिंदी क्षेत्र ईसागढ़ (बुंदेलखंड, शिवपुरी) के एक समृद्ध किसान-परिवार की कन्या थीं। हिंदी वातावरण में पली हुई और उस

जमाने में छठी कक्षा तक शिक्षाप्राप्त। विद्यार्थी-जीवन में अपनी योग्यता के कारण उन्हें सौ रुपये का पुरस्कार मिला था। वे बहुत ही भावुक, लेकिन स्वाभिमानी महिला थीं। एकबार वे मुक्तिबोध की बीमारी की सूचना पाकर बिना अता-पता के स्वयं जबलपुर पहुँच गई थीं और अंततः उनका मकान ढूँढ़ लिया था। ऐसी लगन और हिम्मत थी उनमें। हिंदी के प्रेमचंद और मराठी के हरिनारायण आप्टे उनके प्रिय लेखक थे। उनके वर्णन में भी पति-जैसी ही चित्रात्मकता हुआ करती थी। मुक्तिबोध की कथात्मक प्रतिभा को इस विरासत ने भी पुष्ट किया होगा। जैसा कि कहा जा चुका है, अपने बड़े पुत्र पर उनका सर्वाधिक अनुराग था। उनसे उनकी मृत्यु का समाचार छिपाया गया था। जब उन्हें मालूम हुआ, जिद करके शरच्चंद्रजी के यहाँ से अपने तृतीय पुत्र वसंत मुक्तिबोध के यहाँ उज्जैन गईं, जहाँ कुछ दिनों के बाद हृदयगति रुकने से उनका भी निधन हो गया।

मुक्तिबोध का बचपन सुख से बीत रहा था, लेकिन उनके मन पर उनके इर्द-गिर्द के वातावरण का प्रभाव कुछ भिन्न ढंग से पड़ रहा था। यह दो-तीन घटनाओं से स्पष्ट है। वे चार-पाँच साल के रहे होंगे। उन्हें कोतवाली के बरामदे में बिठा दिया जाता। एक सिपाही दूसरे सिपाही को पीटने का नाटक करता। दूसरा सिपाही जैसे डरा हुआ उनकी शरण में आता और उनसे फरियाद करता—'देखो, रज्जन भैया, हमें मारा', और वह झूठ-मूठ का रोने लगता। मुक्तिबोध फौरन कुर्सी से नीचे कूद पड़ते और अपने पिता की छड़ी उठाकर मारनेवाले सिपाही का पीछा करते। वह छिपता फिरता, लेकिन फिर पकड़ में आ जाता और उनकी मार खाता। कोतवाली में जो पिटाई होती थी, उससे वे अपने पिता से रुष्ट रहते थे। अपराधियों को पीटा जाना उन्हें शुरू से ही बर्दाश्त नहीं था। इसी तरह अपने परिवार के धार्मिक वातावरण की भी उन पर भिन्न प्रतिक्रिया हुई थी। उनकी माँ भगवान् को भोग लगातीं, तो वे विनोद में कहते, 'माँ, क्यों पत्थर के लिए परेशान हो रही हो, मुझे खिलाओ, तो कुछ गुन भी पहुँचे।' वे उनके मित्र शांताराम क्षीरसागर से कहतीं, 'शांताराम, इस मूर्ख को समझाओ, यह तो नास्तिक होता जा रहा है।' स्वभावतः माता-पिता ने उनसे यह उम्मीद लगाई थी कि वे एल. एल. बी. की डिग्री प्राप्त कर एक सरकारी वकील बन जाएँगे, जिससे कि परिवार पहले की तरह सुखपूर्वक चलता रहे। लेकिन पुत्र को यह मंजूर न था। वह मूलतः दूसरी धातु का बना था। उसने पढ़ाई से अधिक महत्त्व दिया घुमक्कड़ी को, इम्तहान से अधिक प्रत्येक वस्तु के सूक्ष्म पर्यवेक्षण और विश्लेषण को और ऊँचे ओहदे से अधिक कवि बनने को। यह एक विद्रोह था, जो उसके भीतर कभी अदृश्य और कभी दृश्य रूप से विकसित हो रहा था। शांताराम के साथ बातें करते हुए रात में भी मुक्तिबोध देर तक शहर का चक्कर लगाया करते

थे। उज्जैन का शायद ही कोई कोना रहा होगा, जहाँ वे साथ-साथ न घूमे हों।

आरंभिक शिक्षा मुक्तिबोध की कई स्थानों में हुई—उज्जैन, विदिशा, सरदारपुर आदि। जाहिर है कि ऐसा उनके पिता की तबादलेवाली नौकरी के कारण हुआ। बाद में वे फिर उज्जैन लौटे, तो कुछ स्थिरता आई। 1930 में मुक्तिबोध उज्जैन के माधव कालेज से, जोकि उस समय एक इंटर कालेज था, ग्वालियर बोर्ड की मिड्ल परीक्षा में बैठे, लेकिन उसमें असफल हुए। सफलता उन्होंने अगले वर्ष प्राप्त की। जब वे मैट्रिकुलेशन में थे, उनके पिता ने उनके मित्र से, जो उन्हीं की सिफारिश पर उनके व्यक्तिगत सहायक हो गए थे, कहा, 'शांताराम, यह गजानन पढ़ाई-लिखाई की ओर से उदासीन अपनी मटरगश्ती में व्यस्त रहता है। मैं तो उसकी ओर विशेष तवज्जो दे नहीं सकता, तुम्हीं उसका कुछ खयाल करो। तुमने मैट्रिक कर ली है, उसे गाइड तो कर ही सकते हो।' मैट्रिकुलेशन में सफल होकर मुक्तिबोध ने 1935 में माधव कालेज से ही इंटरमीडिएट की परीक्षा पास की। बी. ए. में उन्होंने इंदौर के होल्कर कालेज में दाखिला लिया। 1937 में वे बी. ए. की परीक्षा में भी असफल हुए। सफलता उन्होंने पुनः अगले साल ही प्राप्त की, आगरा विश्वविद्यालय से, स्वतंत्र रूप से। आशा के अनुरूप ही उन्हें द्वितीय श्रेणी मिली।

साहित्य का बीज मुक्तिबोध के हृदय में आरंभिक छात्र-जीवन में ही पड़ गया था। 1931 में उज्जैन में हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन सम्पन्न हुआ था, जिसमें महात्मा गाँधी भी पधारे थे। उस अधिवेशन में मुक्तिबोध ने अपने मित्र विलायतीराम घेई के साथ स्वयंसेवक के रूप में काम किया था। घेई नौवीं कक्षा से माधव कालेज में उनके सहपाठी थे। वे कालेज की हिंदी साहित्य समिति के मंत्री भी थे। उसके तथा बाहर के साहित्यिक कार्यक्रमों में मुक्तिबोध अपने मित्र के साथ सक्रिय रूप से भाग लेते थे। वे कविता तो लिखने ही लगे थे, उसके बारे में बहस करना उन्हें खास तौर से पसंद था। कालेज में एक प्राध्यापक थे रमाशकर शुक्ल 'हृदय', जोकि माखनलाल चतुर्वेदी की काव्यधारा के एक सरसहृदय और प्रभाव डालनेवाले कवि थे। बाद में उनका निधन हो गया। उन्होंने मुक्तिबोध की साहित्यिक प्रवृत्ति को बहुत प्रोत्साहन दिया। संभवतः उन्होंने ही उनकी पहली रचना कालेज की पत्रिका में छापी थी। कालेज के दिनों में उनके एक और मित्र शेख मुईनुद्दीन साहब थे। वे छायावादी शैली में कविताएँ लिखा करते थे, जबकि मुक्तिबोध उस शैली को छोड़कर परवर्ती काव्यांदोलनों की तरफ़ क्रमशः उन्मुख होने लगे थे। वे अपने मित्र से कहते, 'एक पॉइंट बनाओ सोचने का, तभी मौलिक सृजन की अपेक्षा उत्पन्न होगी !' ये नए साहित्यिक 'ध्रुव' नाम से एक हस्तलिखित पत्रिका भी निकालते थे और उन्होंने काव्य-चर्चा के लिए एक स्वतंत्र संस्था भी बनी रखी थी। उज्जैन के छात्र-काल में ही मुक्तिबोध का परिचय

प्रभागचंद्र शर्मा से हुआ था, जोकि बाद में साप्ताहिक 'कर्मवीर' (खंडवा) के सहकारी संपादक हुए और फिर वहीं से *'आगामी कल'* नामक अपना स्वतंत्र साप्ताहिक निकाला।

नए काव्यांदोलनों की तरफ झुकाव के साथ-साथ मुक्तिबोध में एक चीज और दिखलाई पड़ने लगी थी। वह थी उनका प्रेमचंद से अत्यधिक प्रभावित होना। ऊपर जिक्र किया जा चुका है कि उनकी माँ के प्रेमचंद अत्यंत प्रिय लेखक थे। उन्हीं की प्रेरणा से मुक्तिबोध ने प्रेमचंद को ठीक से जाना और उन्हें अपनी आत्मा के सर्वाधिक निकट पाया। यहाँ उनके प्रसिद्ध लेख 'मेरी माँ ने मुझे प्रेमचंद का भक्त बनाया' का स्मरण आवश्यक है, जिसमें वे कहते हैं : 'मेरी माँ जब प्रेमचंद की कृति पढ़ती, तो उसकी आँखों में बार-बार आँसू छलछलाते-से मालूम होते। और तब—उन दिनों मैं साहित्य का एक जड़मति विद्यार्थी मात्र मैट्रिक का एक छोकरा था—प्रेमचन्द की कहानियों का दर्दभरा मर्म माँ मुझे बताने बैठती। प्रेमचंद के पात्रों को देख, तदनुसारी-तदनुरूप चरित्र माँ हमारे पहचानवालों में से खोज-खोजकर निकालती। इतना मुझे मालूम है कि माँ ने प्रेमचंद का 'नमक का दारोगा' पिताजी में खोजकर *निकाला था।'* इससे *यह तो स्पष्ट है ही कि* प्रेमचंद के माध्यम से मुक्तिबोध की माँ ने उन्हें श्रेष्ठ मानववादी साहित्य की ओर प्रवृत्त किया, यह भी स्पष्ट है कि उनके चरित्र की नैतिक दृढ़ता की बुनियाद उनके पिता थे, जिनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। और पिता ही क्यों, अपने जीवन और साहित्य में उन्हें उनकी माँ ने भी विद्रोही बनाया था। उक्त लेख में ही अपनी माँ को बहुत ही ऊँचा दर्जा देते हुए वे लिखते हैं, 'मैं अपनी भावना में प्रेमचंद को माँ से अलग नहीं कर सकता। मेरी माँ सामाजिक उत्पीड़न में परंपरावादी थी, किंतु धन और वैभवजन्य संस्कृति के आधार पर ऊँच-नीच के भेद का तिरस्कार करती थी। वह स्वयं उत्पीड़ित थी।' अंत में मुक्तिबोध के एक और कथन को उन्हीं के शब्दों में देख लेना जरूरी है, क्योंकि वह किशोरावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक के उनके जीवन को हमारी आँखों के सामने उपस्थित कर देता है : "मेरी प्यारी श्रद्धास्पद माँ यह कभी न जान सकी कि वह किशोर हृदय में किस भीषण क्रांति का बीज बो रही है, कि वह भावात्मक क्रांति अपने पुत्र को किस उचित-अनुचित मार्ग पर ले जाएगी, कि वह किस प्रकार अवसरवादी दुनिया के गणित से पुत्र को वंचित रखकर, उसके परिस्थिति-सामंजस्य को असंभव बना देगी।"

इंदौर के होल्कर कालेज में बी. ए. की पढ़ाई करते हुए मुक्तिबोध का परिचय प्रभाकर माचवे से हुआ, जोकि उस समय क्रिश्चियन कालेज में बी. ए. के अंतिम वर्ष के छात्र थे और छात्रावास में रहते थे। माध्यम बने वीरेंद्रकुमार जैन।

वे मुक्तिबोध के सहपाठी और साहित्यिक मित्र थे, जिनके साथ वे नई सौंदर्य-संवेदना से भरे हुए साहित्य-लोक में विचरा करते थे। वे माचवे से पहले से परिचित थे। इस प्रकार इंदौर में नए लेखकों की एक तिकड़ी बन गई। तीनों लेखकों की गहरी रुचि कविता में थी। माचवे के छात्रावास के कमरे में बैठक जमा करती। वे एक दूसरे को अपनी कविताएँ सुनाते, एक दूसरे की आलोचना करते और एक दूसरे को परामर्श भी देते थे। इंदौर से आने पर प्रभागचंद्र शर्मा इन लेखकों से अवश्य मिलते। वे 'कर्मवीर' में उनकी कविताएँ छापने लगे थे।

मुक्तिबोध के घर का वातावरण द्वैभाषिक था। उसमें पितृपक्ष से मराठी और मातृपक्ष से हिन्दी, दोनों का अस्तित्व था। लेकिन ऐसा नहीं था कि पिता हिन्दी न जानते हों और माता मराठी। शरच्चंद्रजी ने तो लिखा है कि घर में मुक्तिबोध के साथ उनकी बातचीत मराठी में कम, हिन्दी में ज्यादा हुआ करती थी। ऐसी स्थिति में हिन्दी क्षेत्र के नागरिक मुक्तिबोध यदि मराठी को छोड़कर हिन्दी की तरफ आए, तो कोई आश्चर्य नहीं। उनका दृष्टिकोण बहुत व्यापक था, फिर भी उन्होंने हिंदी क्षेत्र की जनता के दुख-दर्द और संघर्ष को ही अपने साहित्य का विषय बनाया।

इंदौर में मुक्तिबोध अपनी बुआ आत्ताबाई के यहाँ रहते थे, महाराजा तुकौजीराव हॉस्पिटल के एक क्वार्टर में। उनके पति मानसिक विकृति से ग्रस्त होने के कारण शादी के बाद कहीं चले गए थे, जिनका पता अंत तक नहीं चला। वे रॉयल नर्स थीं और उस रूप में उन्होंने विदेशों की भी यात्राएँ की थीं। बाद में उन्हें उक्त अस्पताल में जगह मिल गई थी। उनके साथ के क्वार्टर में ही मनुबाई रहती थीं, अपनी बड़ी लडकी के साथ। वह भी उसी अस्पताल में नर्स थी। उनके साथ उनकी दूसरी लड़की भी थी--शांता। मनुबाई के पति नहीं रहे थे। इसलिए वे महू से अपनी बड़ी लड़की के यहाँ आकर किसी तरह गुजर कर रही थीं। महाराष्ट्रीय ब्राह्मण जाति की ही थीं, इसलिए उन्हें आत्ताबाई के यहाँ रसोई बनाने का काम मिल गया था। एकबार मुक्तिबोध बीमार पड़े, तो शांता ने उनकी बहुत सेवा की। वे इस बात से प्रभावित ही नहीं हुए, बल्कि उसके प्रति रागात्मक खिंचाव भी अनुभव करने लगे। चूँकि वे विचारों से विद्रोही थे, इसलिए उन्होंने घोषणा कर दी कि वे उसी लडकी से शादी करेंगे। शांता का भी उनके प्रति आकर्षण था, इसलिए उधर से वैसी कोई बाधा न थी। मनुबाई अवश्य डरती थीं कि ताई यानी मुक्तिबोध की माताजी सुनेंगी, तो क्या कहेंगी। अपने परिवार में जब मुक्तिबोध ने शांता से विवाह करने का प्रस्ताव रखा, तो जोरों से उसका विरोध किया गया। सबसे अधिक विरोध बुआ की तरफ से हुआ, क्योंकि वह नहीं चाहती थीं कि उनका भतीजा उनकी नौकरानी की लड़की से शादी करे। विरोध की एक वजह यह भी थी कि

माँ की तरह ही शांता को दमे की शिकायत थी। मुक्तिबोध के पिता का तबादला थोड़े दिनों के लिए उज्जैन से भिंड हो गया था। यह उन्हीं दिनों की बात है।

मुक्तिबोध अपने प्रस्ताव के विरोध के प्रति नाराजगी जाहिर करने के लिए कुछ दिन घर से भागे भी रहे, उज्जैन, शांताराम क्षीरसागर के पास। बाद में उन्होंने चार-पाँच पृष्ठों का एक आवेश से भरा हुआ पत्र अपने पिता को लिखा, क्योंकि उनसे वैसी बातें कहने का साहस उनमें नहीं था। उनका साथ उनकी माँ ने दिया, फिर धीरे-धीरे उनके पिता भी विवाह के लिए तैयार हो गए। चूँकि कन्या-पक्ष आर्थिक दृष्टि से समर्थ नहीं था, इसलिए मुक्तिबोध का विवाह बहुत सादे ढंग से संपन्न हुआ। संपूर्ण विधि एक मंदिर में पूरी की गयी। यह 1939 की बात है। इस विवाहोत्सव में यदि शामिल नहीं हुईं, तो आत्ताबाई। उन्होंने अपने विरोध को आजन्म कायम रखा।

मुक्तिबोध की इच्छा के अनुसार उनका विवाह तो संपन्न हो गया, लेकिन उनके संयुक्त परिवार पर उसका अच्छा असर नहीं पड़ा। माता और पिता भी काफी दिनों तक उससे क्षुब्ध और दुखी बने रहे। पारिवारिक वातावरण में एक तनाव आ गया था। उसे दूर करने में मुक्तिबोध किसी हद तक कामयाब हो सकते थे, लेकिन प्रकटतः उससे असंपृक्त वे अपने चिंतन-जगत् में डूबे रहते थे। शांताजी से कोई उम्मीद नहीं की जा सकती थी, क्योंकि उस समय न उनमें वैसी प्रौढ़ता थी, न वैसी कुशलता। जो हो, मुक्तिबोध के विवाह के साथ माधवराव-परिवार पर एक काली छाया आकर बैठ गई, जो गहरी होती चली गई और अंतिम रूप से तो वह कभी नहीं हटी। उससे मुक्तिबोध को भी परेशानी हुई और परिवार के अन्य जनों को भी।

जीविका की चिंता मुक्तिबोध पर विवाह से पहले ही सवार हो गई थी। बी. ए. पास करने के बाद वे सर्वप्रथम बड़नगर के मिड्ल स्कूल में अध्यापक हो गए। वहाँ वे जुलाई, 1938 से लेकर अक्तूबर, 1938 तक यानी कुल चार महीने रहे। उसे छोड़ने का कारण यह हुआ कि स्कूल में उनके एक सहयोगी और मित्र रामलाल पर दुश्चरित्रता और अनुशासनहीनता का झूठा आरोप लगाकर उन्हें नौकरी से हटा दिया गया था। इसी के विरोध में मुक्तिबोध ने त्याग पत्र दे दिया और नवंबर, 1938 में वे शुजालपुर मंडी के शारदा शिक्षा सदन में चले गए। किस्सा यों हुआ।

डा. नारायण विष्णु जोशी 1937 में अमलनेर की इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी में फेलो थे। उसी साल फैजपुर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। वहाँ उन्होंने महात्मा गाँधी और सरदार पटेल के व्याख्यान सुने, जिन्होंने सुशिक्षित नवयुवकों से निवेदन किया था कि वे स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए देहातों में जाकर रचनात्मक कार्य करें। वे उससे प्रभावित होकर अनेकानेक प्रलोभन और परिवार

के लोगों की अप्रसन्नता की चिंता छोड़कर उज्जैन से सीधे शुजालपुर मंडी पहुँचे, जोकि उज्जैन और भोपाल के लगभग बीच में पड़नेवाला एक रेलवे स्टेशन है। वहाँ उन्होंने रामचंद्र चौबे नामक एक तपे-तपाए कार्यकर्ता से संपर्क किया और उन्हीं की सहायता से शुजालपुर मंडी से कोई ढाई मील की दूरी पर स्थित गेरखेड़ी नामक एक गाँव में बच्चों को पढ़ाने के लिए एक पाठशाला की स्थापना की। यही शारदा शिक्षा सदन था, जो पहले एक मंदिर में शुरू हुआ था। दुर्भाग्यवश डेढ़ वर्ष ही बीते थे कि बीमारी से चौबेजी का निधन हो गया। अब सदन की पूरी जिम्मेवारी डा० जोशी पर आ गई। वे उसे शुजालपुर मंडी ले आए और उसे स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान कर मिड्ल स्कूल तक पहुँचा दिया। उनका इरादा उसे हाईस्कूल तक ले जाने का था, लेकिन यह न हो सका। यह सदन काफी नए ढंग का था, जिसमें छात्रों को पुस्तकीय ज्ञान प्रदान करने की अपेक्षा उन्हें देश का सच्चा नागरिक बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। डा. जोशी ही उसके प्रधानाध्यापक थे। ग्वालियर-जैसे राज्य में देशभक्ति के लिए बहुत कम अवसर था, लेकिन उन्होंने सदन के माध्यम से उसे जगाने का भरपूर प्रयास किया। सुबह-सुबह उसमें राष्ट्रगीत गाया जाता, बीच-बीच में प्रभातफेरी भी निकाली जाती। डा. प्रभाकर माचवे कुछ दिनों के लिए महात्मा गाँधी के आश्रम सेवाग्राम (वर्धा) में थे। डा. जोशी कुछ दिन उनके साथ भी रह आए और उनकी प्रेरणा से सदन में चर्खे ही नहीं चलवाने लगे, विद्यार्थियों को एक जुलाहे से कपड़ा बुनने की भी शिक्षा दिलवाने लगे।

माचवे अब उज्जैन के माधव कालेज में दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक होकर आ गए थे। डा. जोशी के सामने सदन के विस्तार की समस्या थी। वे उसके लिए योग्य सहयोगी चाहते थे। उन्होंने माचवे से परामर्श किया, तो उन्होंने उन्हें मुक्तिबोध का नाम सुझाया। मुक्तिबोध उपयुक्त नौकरी की तालाश में थे। माचवे ने जब उन्हें डा. जोशी का परिचय दिया, तो वे तुरन्त तैयार हो गए। डा. जोशी ने उन्हें बतलाया कि फिलहाल उन्हें तीस रुपए मासिक से अधिक वेतन न दिया जा सकेगा और वह भी तब, जबकि सदन की व्यवस्थापिका समिति उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर ले। मुक्तिबोध का डा. जोशी पर कुछ ऐसा विश्वास हो गया था कि उन्होंने उक्त बातों पर कोई ध्यान न दिया और उसी रात अपनी पेटी भरकर उनके साथ शुजालपुर मंडी के लिए चल दिए। सदन में उनकी विधिवत् नियुक्ति हो गई। उनके हिन्दी और अंग्रेज़ी ज्ञान ने बहुत जल्दी विद्यार्थियों के मन पर अपनी धाक जमा ली। चूँकि वे अभी अविवाहित थे, इसलिए अधिकांश समय उन्हीं के बीच बिताते थे। सदन में उनके आ जाने से जो नया जीवन आ गया था, उससे विद्यार्थी ही नहीं, अन्य लोग भी उत्साहित थे। सदन की लोकप्रियता काफी बढ़

गयी। ड़ा० जोशी के छोटे भाई जयराम भी उनके साथ थे। उन्होंने बी.ए. पास किया था और अब दर्शनशास्त्र में एम.ए. करना चाहते थे। मुक्तिबोध ने भी ऐसी ही इच्छा प्रकट की। इस कारण दोनों डा. जोशी के पास बैठकर पढ़ने लगे। तत्पश्चात् मुक्तिबोध का विवाह संपन्न हुआ। शांताजी को भी वे मंडी लाना चाहते थे, लेकिन उसके लिए अभी परिवार के लोग तैयार न थे। इसका एक कारण यह भी था कि वे माँ बननेवाली थीं। ऐसी स्थिति में उनकी सास स्वभावतः उन्हें अपने पास ही रखना चाहती थीं। मुक्तिबोध शिक्षा सदन में लौटे, लेकिन 1939 के जुलाई माह तक ही वहाँ रहे। उसके बाद वे उसे छोड़कर उज्जैन चले आए।

1939 में मुक्तिबोध के पिता ने रियासत की नौकरी से इंस्पेक्टर के रूप में अवकाश प्राप्त किया। पारिवारिक स्थिति में एकाएक भारी परिवर्तन आ गया। कोतवाली का महलनुमा आवास छूट गया। अब सब लोगों को किराए के छोटे मकान में आ जाना पड़ा। फर्नीचर आदि सारी चीजें गायब हो गईं। अर्दली वगैरह सब चले गए। पिता की तनखाह बंद होने से मुक्तिबोध के तीनों भाइयों की पढ़ाई बंद होने की नौबत आ गई। पिता की छोटी-सी पेंशन, जिसके भी शुरू होने में अभी काफी देर थी। हारकर वे एक छोटी-सी जागीर में नौकरी करने चले गए, जिसका भी संकेत ऊपर किया जा चुका है। मुक्तिबोध से उन्हें बहुत उम्मीद थी। समझते थे कि वह बी.ए. पास कर चुका है, उनके बाद परिवार का बोझ सँभाल लेगा। उनकी इच्छा थी कि अब वे पुलिस की नौकरी में जाएँ, लेकिन उसके लिए वे बिलकुल तैयार न थे। मुक्तिबोध परिवार की स्थिति से बेखबर थे, यह नहीं कहा जा सकता, लेकिन जैसे निरुपाय वे अपनी वैचारिक और साहित्यिक दुनिया में मशगूल थे। शुजालपुर मंडी से वापस आकर उन्होंने पुनः स्कूल में अध्यापक बनना ही पसंद किया और उज्जैन के दौलतगंज मिड्ल स्कूल में बहाल हो गए। वहाँ वे अगस्त, 1939 से लेकर सितंबर, 1941 तक यानी करीब दो साल रहे। मस्त और फक्कड़ तबीयत के थे। स्कूल से जो पैसा मिलता, वह उनके लिए भी अपर्याप्त था, फिर वे उससे क्या परिवार की मदद करते और क्या उसे कर्ज से बचाते।

इस अवधि का भी मुक्तिबोध के साहित्यिक जीवन के निर्माण में विशेष महत्त्व है। इस बार का उज्जैन माचवे का उज्जैन था। माचवे छायावाद के प्रभाव से पूरा मुक्त न हुए थे, फिर भी उनमें एक नवीनता थी। उनमें संशय और अनास्था का स्वर था, बौद्धिक गंभीरता के साथ। इसने मुक्तिबोध को विशेष आकर्षित किया। उन्हें लगा कि उनके सामने कविता की एक नई दुनिया है। स्वाभावत· उनके प्रति उन्होंने विशेष आकर्षण अनुभव किया और उनके साथ उनका सम्बंध घनिष्ठ ही नहीं, अत्यंत आत्मीय हो गया। मुक्तिबोध का मस्तिष्क प्रश्नाकुल था। गाँधी, मार्क्स,

फ्रायड, युंग, एडलर, रूसी और फ्रांसीसी उपन्यासकार—माचवे के साथ उनकी चर्चा मुख्य रूप से इन्हीं पर केन्द्रित होती और देर-देर तक चलती। यह समय भी ऐसा था, जिसमें यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ चुका था, भारत में स्वाधीनता-आंदोलन बहुत संकटपूर्ण दौर से गुजर रहा था और हिंदी साहित्य का परिदृश्य भी बदल रहा था। इसी बीच एक दिन मुक्तिबोध दौलतगंज का मिड्ल स्कूल छोड़कर पुनः शुजालपुर मंडी के शारदा शिक्षा सदन में चले गए। यह 1941 का अक्तूबर का महीना था। सुबह-सुबह हाथ में सूटकेस लिए वे डा. नारायण विष्णु जोशी के सामने उपस्थिति हुए और बालकों-जैसी सरलता से उनसे कहा—'मैं अब फिर यहीं रहना चाहता हूँ। मुझे पाठशाला में नियुक्त कीजिए।' सदन की आर्थिक स्थिति उस समय अच्छी नहीं थी, फिर भी उसकी समिति के सामने उनकी प्रतिनियुक्ति का प्रस्ताव रखा गया, तो उसने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। मुक्तिबोध की जगह पर नेमिचंद्र जैन सदन में आ चुके थे। नेमिजी से डा. जोशी का संपर्क भी माचवे के माध्यम से ही हुआ था, आगरे में। सदन के बारे में डा. जोशी से जानकर मुक्तिबोध की जगह पर वहाँ जाने की इच्छा नेमिजी ने स्वयं उनके सामने प्रकट की थी। उनके बाद वहाँ मुक्तिबोध का पुनरागमन सोने में सुगंध की तरह हुआ।

इस बार शुजालपुर मंडी में मुक्तिबोध का समय और सार्थक ढंग से व्यतीत हुआ। डा. जोशी गाँधीवादी थे, साथ ही फ्रांसीसी दार्शनिक हेनरी बर्गसाँ में गहरी रुचि रखनेवाले। नेमिजी आगरे के आगरा कालेज और सेंट जोंस कालेज में क्रमशः बी.ए. और एम.ए. की पढ़ाई करते हुए ही प्रो. प्रकाशचंद्र गुप्त और विशेषकर प्रो. नीहारकुमार सरकार के संपर्क में आकर पूरा मार्क्सवादी बन चुके थे। वे कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीतिक गतिविधियों से भी सम्बंधित थे, इसलिए आगरे में उनका रहना निरापद नहीं रह गया था। जेल जाने की आशंका बराबर बनी रहती थी। इसी कारण वे आगरा छोड़कर शुजालपुर मंडी चलने के लिए सहर्ष तैयार हो गए थे और डा. जोशी ने सब जानते हुए भी उन्हें उपयोगी समझकर शारदा शिक्षा सदन में उनकी नियुक्ति करा दी थी। वे स्वयं प्रधानाध्यापक रहते हुए प्रतिमाह चालीस रुपए वेतन लेते थे। नेमिजी को उपप्रधानाध्यापक का पद दिया गया और उनका वेतन प्रतिमाह पैंतालीस रुपए निश्चित हुआ। सुबह-शाम जब कभी काम न होता, डा. जोशी, नेमिजी और मुक्तिबोध की बैठकें जमतीं और घंटों विचार-विमर्श चलता। शाम को अथवा छुट्टियों के दिन मंडी के आसपास के किसी रमणीक स्थान पर—कभी नेवज नदी के पुल पर, कभी किसी निर्मल जलवाले नाले के किनारे और कभी अमराइयों की छाँह में—नेमिजी और मुक्तिबोध का कविता-पाठ तथा डा. जोशी का गायन भी होता। सदन की स्थिति को सुधारने की योजना भी बनती और राजनीतिक परिस्थिति को बदलने के अनेक उपायों

पर भी वार्ता की जाती। इन अनौपचारिक कार्यक्रमों में अन्य शिक्षक तथा कुछ समझ-बूझवाले विद्यार्थी भी श्रोता के रूप में शामिल होते। इस प्रकार उत्साह और उमंग का एक अद्‌भुत वातावरण था, जो वहाँ स्वाभाविक रूप से निर्मित हो गया था।

डा. जोशी शिक्षा-सदन में सपरिवार रहते थे। उनकी पत्नी थीं कुसुमजी। नेमिजी का परिवार भी एकाध ही महीने बाद वहाँ आ गया था, रेखाजी और छः महीने की बिटिया रश्मि। 1941 के ग्रीष्मावकाश के बाद जब मुक्तिबोध लौटे, तो वे भी शांताजी को अपने साथ लेते आए। गोद में उनका पुत्र रमेश था। योजनानुसार इन स्त्रियों की शिक्षा का कार्यक्रम भी शुरू हुआ। उन्हें मैट्रिकुलेशन तक की शिक्षा दिलाने का विचार था। उन्हें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विषयों की जानकारी देने के लिए सरल और सुबोध तरीके से व्याख्यानों की भी व्यवस्था की गई। व्याख्यानों में स्त्रियों के साथ सदन के विद्यार्थी तथा अन्य शिक्षक भी उपस्थित रहते। जब कभी चार-पाँच दिनों की छुट्टियाँ होतीं, माचवे भी उज्जैन से शुजालपुर मंडी पहुँच जाते। फिर तो वातावरण तरंगित हो उठता। माचवे से नेमिजी की पहले से घनिष्ठता थी। उज्जैन में उनके घर मुक्तिबोध से भी नेमिजी मिल चुके थे। सदन में इन दोनों के बीच गाढ़ा मैत्री-सम्बंध स्थापित हो गया था। गाँधीवादी होने के कारण माचवे से डा. जोशी का परिचय भी गाढ़ा हो चुका था। दर्शन, साहित्य और राजनीति–ये विद्वान् और लेखक इन पर बहुत ही गहराई से चर्चा करते और विषय के अधिक से अधिक पहलुओं पर अपनी दृष्टि ले जाते। पुस्तकों की भी कमी न थी। डा. जोशी के पास दर्शनशास्त्र से सम्बंधित काफी सामग्री थी और नेमिजी के पास मार्क्सवाद से सम्बंधित। चर्चा के साथ गहन अध्ययन का भी सिलसिला चल रहा था। डा. जोशी के अनुज जयराम भी सदन में शिक्षक हो गए थे। वे जब एम.ए. का इम्तहान देने के लिए बाहर गए, तो उनकी जगह पर शरच्चन्द्र मुक्तिबोध की नियुक्ति की गई। इस कारण मंडी का माहौल जितना गंभीर था, उतना ही पारिवारिक आत्मीयता से पूर्ण भी।

सदन में चलनेवाली लंबी-चौड़ी बहसों का परिणाम यह हुआ कि डा. जोशी गाँधीवाद की सीमाओं को समझने और यह महसूस करने लगे कि जमींदारों, साहूकारों तथा हाकिमों के अत्याचारों से निबटने के लिए महात्मा गाँधी का रचनात्मक कार्य काफी नहीं है। वे राजनीतिक संगठन और क्रांतिकारी कार्यक्रम की अधिकाधिक आवश्यकता महसूस करने लगे और धीरे-धीरे पूर्णतः मार्क्सवादी बन गए। मुक्तिबोध के मन में जो द्वंद्व था, वह भी समाप्त हो गया और उन्होंने भी मार्क्सवाद को स्वीकार कर लिया, बावजूद इसके कि उनके चिंतन के गवाक्ष खुले रहे और मार्क्सवाद को स्वीकार करते हुए भी उसके प्रति अपूर्णता का एक

एहसास उनके भीतर बना रहा। इसकी परिणति उनके विचार और रचना में संकीर्णतावादी रुझानों से लड़ने और उनके द्वारा मार्क्सवाद को यथासंभव सृजनात्मक ढंग से विकसित करने के रूप में हुई। अब शुजालपुर मंडी और शारदा शिक्षा सदन डा. जोशी, नेमिजी और मुक्तिबोध तीनों को ही अपने कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से छोटा लगने लगा। नेमिजी पहले से कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े हुए थे, अब डा. जोशी और मुक्तिबोध भी जुड़ गए थे। मुक्तिबोध का यह जुड़ाव निश्चय ही पार्टी सदस्य के रूप में हुआ होगा, क्योंकि उज्जैन लौटने के बाद अपने 12 मार्च, 1943 के पत्र में उन्होंने नेमिजी को लिखा कि 'मैं फिर से पार्टी सदस्य बना लिया गया हूँ।' इसका मतलब यही है कि मंडी से उज्जैन आने पर थोड़े दिनों के लिए उनकी सदस्यता छूट गई होगी। सदन मिड्ल स्कूल से अधिक एक संस्थान का रूप ले चुका था। इस प्रकार रचनात्मक कार्य के लिए तो वह ठीक था, लेकिन क्रांतिकारी राजनीतिक क्रिया-कलाप के लिए वह स्थान उपयुक्त न था। लिहाजा उसे छोड़कर बाहर आने की योजना बनाई गई। डा. जोशी सदन से त्यागपत्र देकर कानपुर और फिर वहाँ से बंबई चले गए। उनके पीछे कुछ दिनों तक प्रधानाध्यापक के पद पर नेमिजी को काम करना पड़ा। डा. जोशी को कानपुर जाकर मुक्तिबोध और नेमिजी को अपने पास बुलाना था, लेकिन वे उनसे संपर्क न कर सके। बाद में इन दोनों ने भी आग-पीछे सदन छोड़ दिया। मुक्तिबोध उज्जैन लौटकर वहाँ के मॉडेल हाईस्कूल में अध्यापक हो गए और नेमिजी बरवासागर होते हुए कलकत्ता चले गए। बरवासागर झाँसी-मानिकपुर रेलमार्ग पर स्थित एक छोटा स्टेशन है, जिसके पास ही नेमिजी के पिता का कारोबार और मकान था। कलकत्ते वे भारतभूषण अग्रवाल के पास गए, जो वहाँ पहले से मौजूद थे। यह 1942 के अक्तूबर-नवंबर की बात है।

मॉडेल हाईस्कूल में मुक्बिोध करीब तीन वर्ष तक रहे, जुलाई, 1945 तक। उनके वैचारिक और सृज़नात्मक जीवन में क्रांतिकारी मोड़ शुजालपुर मंडी में ही आ चुका था। इस बार उज्जैन में रहते हुए उन्होंने उसी दिशा में अपनी प्रगति जारी रखी। 'तार सप्तक' में संकलित उनकी अधिकांश कविताएँ, जिनमें बर्गसाँ से लेकर मार्क्स तक की उनकी यात्रा के पदचिन्ह् अंकित हैं, शुजालपुर मंडी में ही रची गई थीं। उज्जैन में उन्होंने राजनीतिक और साहित्यिक दोनों मोर्चों पर जो सक्रियता दिखलाई, संगठनिक संबद्धता के साथ, वह भी शुजालपुर मंडी की गतिविधि का ही विस्तार था। वे एक बेचैनी से भरे हुए थे, पार्टी का कार्य अधिक से अधिक संलग्नता और समपर्ण के भाव से करने को इच्छुक। उनका गहन संपर्क इंदौर के कम्युनिस्टों से भी हो गया था और वे उन्हें भी उनके दायित्व का ज्ञान कराने के लिए प्रयत्नशील थे।

माचवे उज्जैन में बने हुए थे। मुक्तिबोध पुनः वहाँ लौटे तो स्वभावतः इस बार घनिष्ठता और बढ़ गई। माचवे के कमरे की चाभी ज्यादातर उन्हीं के पास रहती। कपड़े भी वे अदल-बदलकर एक दूसरे के पहना करते। मुक्तिबोध इतने लापरवाह और मस्तमौला थे कि चाभी खो जाने से लेकर दोस्तों पर जेब खाली कर देने तक को कोई महत्त्व नहीं देते थे। पैसे खर्च करने में उन्हें आनंद आता था। जब साथ में दोस्त होते, तो चाय-पानी का बिल अदा करना वे अपना फर्ज़ समझते थे। शुजालपुर मंडी से वे पक्के मार्क्सवादी बनकर लौटे थे। उत्साह से भरे हुए। द्वितीय विश्वयुद्ध चल रहा था, इस कारण वे हमेशा उत्तेजना में रहते। माचवे के साथ उनकी लगातार बहसें होतीं। उन बहसों का हिसाब लगाना आज मुश्किल है। उन्हें इस बात से आश्चर्य होता था कि उनकी तथ्यपूर्ण बातों से कोई असहमत भी हो सकता है। जब कभी माचवे उनसे असहमति जतलाते, वे बहुत क्षुब्ध हो उठते और बीच बहस में उठ खड़े होते—'अच्छा पार्टनर, अब हम चले।'

उज्जैन में माचवे का आवास साहित्यिक और राजनीतिक दोनों प्रकार की चर्चाओं का केंद्र था। नेमिजी और मुक्तिबोध से तो उनकी घनिष्ठता थी ही, इस जमात के एक सदस्य भारतभूषण अग्रवाल भी हो गए थे, जो माचवे की तरह ही नेमिजी और मुक्तिबोध से मिलने शुजालपुर मंडी तक जाया करते थे। नेमिजी से मुक्तिबोध का परिचय तो माचवे के माध्यम से हुआ ही था, भारतभूषण से परिचय भी उन्हीं के माध्यम से हुआ था। प्रभागचंद्र शर्मा और वीरेंद्रकुमार जैन से मुक्तिबोध पहले से परिचित थे। प्रभागचंद्र जब उज्जैन लौटते, तो माचवे के यहाँ जमनेवाली बैठकों में अवश्य शामिल होते। इस विवरण का तातपर्य यह सूचित करना है कि 'तार सप्तक' (1943) प्रायः इसी जमात की कल्पना का मूर्त रूप है, भले ही बाद में उसकी मूल योजना में व्यावहारिक अथवा साहित्यिक कारणों से कुछ परिवर्तन करना पड़ा और प्रभागचंद्र शर्मा तथा वीरेंद्रकुमार जैन के बदले उसमें दो अन्य कवि शामिल किए गए। ये कवि थे भारतभूषण अग्रवाल और रामविलास शर्मा। गिरिजाकुमार माथुर का नाम पहले से था, क्योंकि वे मध्यभारतीय थे। चूँकि भारतभूषण का मध्यभारत से कोई सम्बंध नहीं था, इसलिए उनका नाम अंतिम रूप से तभी आया, जब वीरेंद्रकुमार जैन योजना में नहीं रहे। प्रभागचंद्र शर्मा की जगह रामविलास शर्मा को लाया गया। अज्ञेय उसमें संपादक बनाए जाने के कारण शामिल हुए, यह अब सुपरिचित तथ्य है। इन परिवर्तनों से जो अच्छी बात हुई, वह यह कि 'तार सप्तक' की मूल कल्पना बदल गई। माचवे, नेमिजी, मुक्तिबोध और प्रभागचंद्र शर्मा ने उसे मध्यभारत के कवियों का संकलन बनाना चाहा था, लेकिन अब वह मध्यभारत तक सीमित न रहा और उसने गैरक्षेत्रीय स्वरूप प्राप्त कर लिया। इस संबंध में एक और बात ज्ञातव्य है कि 'सप्तक' के अधिकांश

कवि मार्क्सवादी थे और बाकी भी प्रगतिशील विचार रखते थे, प्रगतिशील लेखक संघ से संबद्ध रहते हुए।

1942 में मुक्तिबोध ने उज्जैन में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। उद्देश्य था छायावाद की क्षयशील भावुकता की जगह नए कवियों और लेखकों में नया यथार्थबोध उत्पन्न करना। उनकी वजह से उज्जैन के साहित्य-जगत् में एक तीखा वैचारिक संघर्ष छिड़ गया और लेखक साहित्यिक मुद्दों को गंभीर रूप में लेने के लिए बाध्य हुए। उनमें अध्ययन और चिंतन की प्रवृत्ति दृढ़ हुई और देखते-देखते वातावरण एक बौद्धिक सक्रियता से अनुप्राणित हो उठा। 1942 की अगस्त-क्रांति और उसके बाद 1943 का बंगाल का अकाल। विश्वयुद्ध का तांडव जारी था। इन घटनाओं ने भारतीय बुद्धिजीवियों से लेकर कवि-लेखकों तक को अत्यंत उद्वेलित कर रखा था। 1943 की फरवरी में मुक्तिबोध ने उज्जैन में मध्यभारतीय लेखक परिषद का आयोजन किया, जिसकी अध्यक्षता जैनेंद्रकुमार ने की। हजारीप्रसाद द्विवेदी और अज्ञेय भी इस आयोजन में सम्मिलित होनेवाले थे, लेकिन समयाभाव के कारण वे न आ सके, उनका संदेश अवश्य पहुँचा। उत्साहवर्धक संदेश भेजनेवालों में राहुल सांकृत्यायन भी थे। माखनलाल चतुर्वेदी ने संदेश भेजने के साथ-साथ 'कर्मवीर' में संपादकीय लिखकर इस परिषद का स्वागत किया और उसकी सफलता के लिए शुभकामनाएँ प्रकट कीं। इस त्रिदिवसीय आयोजन का मध्यभारत के लेखकों पर भारी प्रभाव पड़ा। उज्जैन के लेखक उससे विशेष उत्प्रेरित हुए और वे स्फूर्ति से भरकर प्रगतिशील लेखक संघ की साप्ताहिक और पाक्षिक रचना और विचार-गोष्ठियों में भाग लेने लगे। उनमें एक नई सामूहिक चेतना उत्पन्न हुई और उन्होंने लेखक के रूप में अपने को एक जिम्मेदार नागरिक के रूप में देखा। इन लेखकों में एक हरिनारायण व्यास थे, जो आरंभ में 'विस्मित' उपनाम के साथ कविताएँ लिखते थे। यह ज्ञातव्य है कि आगे चलकर वे 'दूसरा सप्तक' (1951) में सम्मिलित किए गए और हिन्दी में एक कवि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की। बाद में प्रगतिशील लेखक संघ के निमंत्रण पर उसके आयोजनों में शामिल होने के लिए बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', राहुल सांकृत्यायन और यशपाल-जैसे लेखक भी उज्जैन पधारे, जिनके साथ वहाँ के लेखकों ने साहित्य की प्रगतिशीलता पर सामूहिक चर्चाएँ कीं। इन चर्चाओं से उनकी चिंतनधारा की दिशाएँ स्वभावतः अधिक सार्थक और व्यापक हो गईं। मुक्तिबोध की प्रेरणा से 1945-46 में प्रगतिशील लेखक संघ ने माचवे की अध्यक्षता में प्रेमचंद दिवस मनाया, जिसमें हिन्दी, उर्दू और मराठी के लेखकों ने प्रेमचंद और उनके साहित्य के बारे में अपने विचार प्रकट किए। उज्जैन के लिए ही नहीं, कदाचित् संपूर्ण हिन्दी जगत् के लिए यह पहला अवसर था, जबकि एक मंच पर तीन भाषाओं के लेखक उपस्थित हुए थे

और उन्होंने प्रेमचंद का महत्त्व प्रतिपादित किया था। 1943 में मुक्तिबोध ने इंदौर में फास्स्टि-विरोधी लेखक-सम्मेलन का आयोजन किया, जो राहुलजी की अध्यक्षता में संम्पन्न हुआ था। उज्जैन में रहते हुए ही वे 1944 में भारत सोवियत मैत्री संघ के अधिवेशन में भाग लेने के लिए बंबई गए थे। वहाँ उन्होंने 'लाल सलाम' शीर्षक कविता लिखी, जो कम्युनिस्ट पार्टी के साप्ताहिक पत्र 'लोकयुद्ध' के 11 जून, 1944 के अंक में प्रकाशित हुई।

यह सब हो रहा था, लेकिन मुक्तिबोध आर्थिक रूप से परेशान थे। हाईस्कूल की नौकरी से होनेवाली आय भी हर तरह से नाकाफी थी। वे उज्जैन छोड़कर जबलपुर की आर्डनेंस फैक्टरी में कार्य करने की योजना बनाने लगे, जिससे उनकी आय कुछ बढ़े, कर्ज का बोझ उतरे और वे एक नौकर रखकर अपनी पत्नी को घर के कामों से निजात दिला सकें। संयुक्त परिवार की जवाबदेहियाँ ऊपर से थीं। खास बात यह कि वे उज्जैन में अपने को मित्रविहीन भी अनुभव कर रहे थे। लेकिन आर्डनेंस फैक्टरी में जाने का मतलब था पार्टी-कार्यों को छोड़ना, जिन्हें वे बहुत भावात्मक लगाव के साथ कर रहे थे। ये कार्य उन्हें बाहरी विश्व से जोड़नेवाले भी थे। पार्टी की ओर से उन्हें छात्र-मोर्चे पर लगाया गया था। वे आशा कर रहे थे कि उनके प्रयासों से शीघ्र ही उज्जैन में एक छात्र-आंदोलन की शुरुआत होगी, जिसे वह स्थान छोड़ देने से वे न देख सकेंगे। इस कारण उनका मन आगे बढ़कर भी पीछे हट जाता था। अब वे संयुक्त प्रांत या बिहार में भी कोई ऐसा काम चाहते थे, जिसमें अच्छा वेतन मिले। गैरसरकारी काम को वे प्राथमिकता देते थे, जिससे वे पार्टी में अपनी सक्रियता बनाए रख सकें। नेमिजी ने भी उन्हें सरकारी नौकरी की कठिनाइयों से अवगत कराया और बतलाया कि उन-जैसे लोगों के लायक दो ही काम हैं—पत्रकारिता और अध्यापन, और इन दोनों में से कोई काम आर्थिक दृष्टि से अच्छा नहीं। उन्होंने उन्हें परामर्श दिया कि वे अभी अध्यापन में ही रहें और कुछ दिनों के बाद उसे छोड़कर पार्टी का पूरावक्ती कार्यकर्ता बन जाएँ। बाद में जब वे स्वयं पार्टी का पूरावक्ती कार्यकर्ता बनकर बंबई पहुँचे, तो उन्हें वहाँ बुलाया। भारत सोवियत मैत्री संघ के अधिवेशन के अवसर पर वे वहाँ गए भी, लेकिन वहाँ टिके नहीं। 'तार सप्तक' प्रकाशित हो चुका था। वे एक उपन्यास लिख रहे थे, अपना कविता-संग्रह निकलवाने की इच्छा रखते थे और हिन्दी में एम.ए. भी कर लेना चाहते थे, जिससे किसी कालेज में व्याख्याता बनकर अपनी आर्थिक कठिनाइयों को दूर कर सकें, साथ ही लिखने-पढ़ने के लिए अधिक से अधिक समय पा सकें।

लेकिन हुआ यह कि 1945 के मध्य में मुक्तिबोध कालेज में पहुँचने के बदले वायु-सेना की नौकरी करने बंगलौर पहुँच गए। इससे अनुमान लगाया जा सकता

है कि वे कितने आर्थिक कष्ट में थे और उससे उत्पन्न कैसा तनाव झेल रहे थे। एक बड़ी समस्या उनका संयुक्त परिवार था, जिससे वे हर कीमत पर निकलना चाहते थे। उन्हें आशा थी कि वे बंगलोर में शांताजी के लिए कोई व्यवस्था कर एक नए जीवन की शुरुआत का सकेंगे, लेकिन वहाँ का अनुशासन इतना कठोर था कि वे उन्हें वहाँ लाने की बात सोच भी नहीं सकते थे। वह एक ऐसी जगह थी, जो शहर से दूर ही नहीं थी, बल्कि बाकी दुनिया से बिलकुल कटी हुई थी और महीनों बाद ही जहाँ से कभी बाहर निकलने का अवसर मिलता था। और तो और, वहाँ की अपनी कठिनाइयों के बारे में किसी को लिखा भी नहीं जा सकता था। काम भी किरानी का था, जो मुक्तिबोध के लिए आकर्षक न हो सकता था। दूसरे, वे सिर्फ पैसे को ध्यान में रखकर वहाँ न गए थे। लिहाजा वे मुश्किल से डेढ़-दो हफ्ते वहाँ रुके और प्रशिक्षण-काल में ही वहाँ से छुट्टी लेकर बंबई होते हुए उज्जैन लौट आए। बुलावा आता रहा, पर वे फिर वहाँ कभी नहीं गए।

उज्जैन में समस्या ज्यों की त्यों बनी थी। वे यथाशीघ्र उज्जैन छोड़ने के लिए उद्यत थे। उसे अपनी 'मुक्ति' कहते थे, लेकिन उस मुक्ति के लिए भी पैसों की दरकार थी। वे बार-बार अपने अनन्य मित्र नेमिजी की ओर देखते थे और प्रायः हर बार उनसे सहायता पाते थे, बावजूद इसके कि वे स्वयं कठिनाइयों में रहते थे। पैसों की जरूरत उन कुछ कर्जों को पटाने के लिए थी, जो उज्जैन में उन पर चढ़े हुए थे। बिना उन्हें पटाए उनका वहाँ से निकलना ठीक न होता। स्कूल उन्होंने अभी छोड़ा न था, लेकिन उसे यह सूचना उन्होंने काफी पहले दे दी थी कि वे उसकी नौकरी से अपना इस्तीफ़ा देनेवाले हैं। अंतत' खंडवा और फिर आगरा पहुँचने की कल्पना करते-करते मुक्तिबोध 1945 के सितंबर में बनारस पहुँच गए, सरस्वती प्रेस में। इसका रास्ता भी उन्हें नेमिजी ने ही सुझया था। वे उनके लिए कलकत्ते के 'विश्वबंधु' नामक दैनिक पत्र में, जिसके संपादक एक कम्युनिस्ट कार्यकर्ता और पत्रकार श्रीचंद्र अग्निहोत्री थे, एक बार काम ढूँढ़ चुके थे, फिर सरस्वती प्रेस के बारे में भी उन्हें लिखा था। वे 1944 के नवंबर के अंत में कई दिनों के लिए बंबई से कलकत्ता गए थे। वहाँ उनकी मुलाकात श्रीपत राय से हुई। उन्होंने उन्हें बतलाया कि उन्हें प्रकाशन-सम्बंधी अपनी योजनाओं के कार्यान्वयन में सहायता देने के लिए एक व्यक्ति की जरूरत है। उस व्यक्ति का काम होगा पांडुलिपियों का संशोधन और संपादन और फिर उनका प्रकाशन। नेमिजी ने श्रीपत राय को मुक्तिबोध का नाम सुझाया, तो वे उन्हें अपने यहाँ रखने के लिए तैयार हो गए। इसी के बाद उन्होंने मुक्तिबोध को सूचना दी थी कि वे चाहें तो श्रीपत राय से संपर्क कर बनारस चले जाएँ। उन्होंने उनके साहित्यिक भविष्य की दृष्टि से भी उनके लिए इस काम को उपयुक्त बतलाया था। इसके

अलावा बनारस उनके मनमाफिक जगह थी। एक बड़ा प्रलोभन 'हंस' से जुड़कर अपने लिए अभिव्यक्ति का एक माध्यम पाने का था। लेकिन उस समय मुक्तिबोध बनारस गए नहीं। गए वे बंगलोर से लौटने के दो-ढाई महीनों के बाद।

सरस्वती प्रेस में काम का बोझ ज्यादा था। मुक्तिबोध शाम को छः बजे के बाद ही फुर्सत पाते और उसके बाद का वक्त घर को देते। परिवार वे बनारस ले आए थे, पत्नी और बेटा रमेश। परिवारी बनने की कोशिश अपनी तरफ से वे कम नहीं करते थे, लेकिन व्यावहारिकता जैसे उनके स्वभाव में नहीं थी। अब वे अपने पुराने अध्यापकीय जीवन के लिए तरसने लगे, जिसमें लिखाई-पढ़ाई के लिए उन्हें पर्याप्त अवकाश मिलता था। अभी भी उनका सपना वही था– एम. ए. पास करके किसी कालेज में व्याख्याता हो जाएँ। उनकी आकांक्षा बहुत बड़ी न थी। समाज में वे एक सामान्यतया प्रतिष्ठित व्यक्ति का जीवन बिताना चाहते थे, जो अपना खर्चा अपनी कमाई से निकाल ले और जो अपने फटे कपड़ों और टूटी चप्पलों के कारण हेय दृष्टि से न देखा जाए ! साहित्य के प्रति उनकी प्रतिबद्धता गहन से गहनतर होती जा रही थी। वे हिन्दी भाषा को नए सिरे से सीखना चाहते थे। साहित्य में अपने को अभिव्यक्त करने का प्रश्न उनके लिए जीवन की सार्थकता का प्रश्न बन गया था। सोचते थे, यदि मैं यह नहीं कर सका, तो इस दुनिया में आया ही क्यों ? लेकिन आत्मविश्वास की उनमें कमी न थी। वे अपने आगे एक महान् भविष्य देख रहे थे। प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद के जगदीश ने त्रिलोचन शास्त्री का प्रथम कविता-संग्रह 'धरती' छापा था। वे उनका कविता-संग्रह छापने के लिए भी तैयार थे। मुक्तिबोध उनसे सिर्फ सौ रुपये पाने की आशा से तुष्ट थे। लेकिन उनका संग्रह न प्रदीप कार्यालय से निकला, न उनके जीवन-काल में किसी अन्य स्थान से।

बनारस में मुक्तिबोध की स्थिति उज्जैन से बेहतर थी, लेकिन पारिवारिक समस्याएँ यहाँ भी उनका पीछा नहीं छोड़ रही थीं। बीमारी का सिलसिला लगा ही रहता था। सारा समय प्रेस में चला जाता था; जो बचता था, वह घर-गृहस्थी के कामों में। रात में मोमबत्ती की धुँधली रोशनी में मुक्तिबोध कलम चलाते, शरीर और मन से थके हुए। बीच-बीच में पिता के स्नेहविह्वल पत्र आकर उन्हें विचलित कर जाते। उनकी चिंता का एक बड़ा कारण यह था कि बनारस में वे अपने को जनता से कटा हुआ अनुभव करने लगे थे। जैसे उसके सुख-दुख में भाग लेने की उनकी क्षमता कुंठित होती जा रही थी। उज्जैन में ऐसी बात नहीं थी। यहाँ तो आत्मरक्षा के भाव ने अन्य सभी चीजों को पीछे ठेल दिया था। इसे वे अपना बहुत बड़ा नुकसान मान रहे थे। ऊपर से उन्हें इस बात का अफसोस था कि उनके भरसक प्रयास करने पर भी श्रीपत राय उनके काम से पूर्णतः संतुष्ट न

थे। मुक्तिबोध के मन में खयाल पैदा होने लगा कि उन्हें उन पर बोझ न बनना चाहिए। अब वे सरस्वती प्रेस छोड़कर प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद में नौकरी करने की कल्पना करने लगे। लेकिन यह कल्पना भी कल्पना ही रही। अक्तूबर, 1946 के अंतिम दिनों में वे जबलपुर आ गए और अगले महीने से वहाँ के डी. एन. जैन हाईस्कूल में अध्यापक हो गए। यह वही स्कूल था, जिसमें बाद में हरिशंकर परसाई भी अध्यापक बने।

मुक्तिबोध का जबलपुर आना शुरू से ही उनके लिए कष्टकर सिद्ध हुआ। बनारस से जबलपुर आते हुए रास्ते में शांताजी अस्वस्थ हो गईं, साथ में नवजात बच्ची भी। शांताजी पंद्रह दिनों तक न्यूमोनिया में पड़ी रहीं। बीच में प्रलापावस्था में भी पहुँचीं और मूर्च्छित भी रहीं। मुक्तिबोध का कष्ट इससे और बढ़ गया था कि डाक्टर लगे हुए थे और उनके पास अब पैसे नहीं बचे थे। पैसे वे अपने माता-पिता से मँगा सकते थे, लेकिन वह सब तरफ से हारकर ही करना चाहते थे। जिस मकान में टिके थे, उसके कमरे बहुत ही खराब थे, सीलन से भरे हुए। उन्हें बाहर के कामों के साथ रसोई और रोगी की परिचर्या का काम भी करना पड़ता था। शांताजी के बुखार से निकलने के बाद मुक्तिबोध की माँ जबलपुर पहुँचीं और एक सप्ताह वहाँ रुककर उन्हें दोनों बच्चों के साथ दिग्थान होते हुए, जहाँ उनके पिता थे, उज्जैन ले गईं। मुक्तिबोध बहुत परेशान थे, बहुत निराश। वे अपनी आत्मग्रस्तता को दोष देते थे और उसी को अपनी सभी परेशानियों की जड़ मानते थे। उन्हें लगता था, जब तक वे उसके दलदल से न निकलेंगे, उनकी उन्नति न होगी। वे एक प्रसन्न और मोहक व्यक्तित्व चाहते थे, लेकिन उनके चेहरे पर, जैसाकि उनके मित्र लक्ष्य करते थे, हमेशा एक त्रासद भाव अंकित होता था। यह स्थिति उन्हें बर्दाश्त न थी, लेकिन कोई उपाय भी न था। वे इतने निराश थे कि उनके भीतर आत्महत्या तक के खयाल पैदा होने लगे। ऐसे ही वक्त में उन्हें अपने मित्र नेमिजी की याद आती। नेमिजी अपने पत्रों से उन्हें समझाते कि दुनिया के करोड़ों-करोड़ लोगों का हाल उनसे भी अधिक खराब है, फिर वे अपने को ही परेशान दिखलाकर उनका अपमान क्यों कर रहे हैं? वे उनकी पीड़ा को एक बड़ा सामाजिक परिप्रेक्ष्य प्रदान कर देते। मजेदार बात यह है कि यह परिप्रेक्ष्य स्वयं मुक्तिबोध के पास भी था, जिससे वे अपने को ही अपनी परिस्थितियों से अलग कर मानसिक स्वास्थ्य नहीं प्राप्त कर लेते थे, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर नेमिजी के मन की निराशा भी दूर करने का प्रयास करते थे, जब वे भी परिस्थितियों से घिरकर विभ्रांत हो जाते थे।

परिवार के लोग यह समझने में असमर्थ थे कि मुक्तिबोध को जब हाईस्कूल की ही नौकरी करनी है, तो घर से दूर जबलपुर में क्यों? पिता और अनुज उन्हें

उज्जैन बुला रहे थे। मॉडेल हाईस्कूल में फिर उन्हें जगह मिल जाती। माँ चाहती थीं, वे पिता की देख-रेख करें। अस्पष्ट रूप से वे उन्हें अपने भाइयों के प्रति उनके कर्तव्य की भी याद दिला रही थीं। पिता उन्हें स्नेहवश अपने निकट ही रखना चाहते थे। संयुक्त परिवार के कटु अनुभवों के फलस्वरूप मुक्तिबोध ने उन लोगों का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, लेकिन उज्जैन जाकर वे एकबार उन लोगों से मिलना अवश्य चाहते थे। जो समस्या थी, वह पैसे की। उनके पास ढंग के कपड़े तक न थे। उनके अनुज सुखी थे। वे अग्रज होकर उनके सामने अपनी मुफलिसी न जाहिर करना चाहते थे। उससे जूझते हुए एक बार तो उन्होंने नेमिजी से, जो बंबई में पार्टी के पूरावक्ती कार्यकर्ता थे, सांस्कृतिक मोर्चे पर सक्रिय, यह भी पूछा कि क्या वे उन्हें सिने-जगत् में कोई काम दिला सकते हैं? वहाँ नहीं, तो दिल्ली की ही नई खुलनेवाली कंपनियों में से किसी एक में? वह कंपनी विमान-सेवावाली कोई भी कंपनी हो सकती है। बाद में उन्होंने जबलपुर में ही फुड प्रोक्योरमेंट इंस्पेक्टर और राशनिंग इंस्पेक्टर के पदों पर नियुक्ति के लिए प्रयास किया। ये मुक्तिबोध के अभावग्रस्त जीवन का ज्ञान करानेवाले कुछ और तथ्य हैं।

उनकी बेचैनी का एक कारण यह भी था कि पार्टी से वे अलग-थलग पड़ गए थे और उनकी चिंता का केंद्र परिवार बन गया था। संयुक्त प्रांत की सरकार ने जब कम्युनिस्ट पार्टी के साप्ताहिक 'न्यू एज' को प्रतिबंधित कर दिया, तो जबलपुर को वितरण-केंद्र बनाकर उन्हीं को संपर्क-सूत्र बनाया गया। जबलपुर में भी उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की, जिसके एक कार्यक्रम में राहुलजी भी आए थे। लेकिन इतना उनके लिए काफी न था। वे चाहते थे, वे पार्टी की सरगर्मियों और जन-संघर्षों में जोरशोर से हिस्सा लें। लेकिन परिवार के उज्जैन होने की वजह से इतना हुआ कि फुर्सत पाकर उन्होंने अपनी कलम चलाई और चार ऐसी लंबी कविताएँ लिखीं, जो वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से प्रगतिशील कविता के रूढ़ ढाँचे से बाहर की कविताएँ थीं। वे अपने कविता-संग्रह की पांडुलिपि फिर से तैयार कर रहे थे और जयशंकर 'प्रसाद' के काव्य 'कामायनी' पर आलोचना की एक पुस्तक भी लिख रहे थे। इसी बीच इंडियन प्रेस, प्रयाग में शिक्षण और प्रकाशन का अनुभव रखनेवाले एक कला-स्नातक की आवश्यकता हुई, तो उन्होंने उसके लिए भी आवेदन किया, लेकिन जैसे और जगहों में उन्हें सफलता नहीं मिली, यहाँ भी निराशा ही हाथ लगी। इलाहाबाद के प्रति उनके मन में अतिरिक्त आकर्षण था, क्योंकि वहाँ से अज्ञेय के संपादकत्व में 'प्रतीक' (1947) का प्रकाशन शुरू होने जा रहा था, जिसमें काम करने के लिए नेमिजी बंबई से वहाँ आ गए थे। आर्थिक दबाव में आकर मुक्तिबोध ने एक स्थानीय दैनिक में कुछ महीने काम किया। इसी समय जबलपुर से वसंत पुराणिक के प्रबंधकत्व में 'समता' नामक

एक साहित्यिक मासिक शुरू हुआ। उसके संपादक-मंडल में भी वे रहे, कुछ आर्थिक लाभ की आशा से ही, लेकिन इस पत्रिका का एक अंक ही निकला। दूसरा आर्थिक कारणों से छपकर भी बाहर न आया। संपादक-मंडल बड़ा भव्य था, जिसमें नंददुलारे वाजपेयी और शिवदानसिंह चौहान से लेकर रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' तक थे। पैसे का उन्हें ऐसा टोटा रहता था कि एक-दो रेडियो प्रोग्राम का भी उनके लिए महत्त्व होता था। उसके लिए भी वे प्रयत्नशील रहते थे।

स्कूल में अलग झंझट खड़ा हो रहा था। एकबार मुक्तिबोध छुट्टी पर गए, तो उन्हें अवैतनिक छुट्टी देने के बदले अनुपस्थित घोषित कर कार्यमुक्त कर दिया गया। बाद में उन्हें रखा गया तो इस शर्त पर कि भविष्य में वे एक दिन भी न आकस्मिक छुट्टी लेंगे, न अवैतनिक। यह पुनर्नियुक्ति औपचारिक नियुक्ति न थी। स्वभावतः ऐसे स्थान से निकल भागने की मुक्तिबोध की इच्छा और प्रबल हो गई। उन्हें एक ही रास्ता दिखलाई पड़ रहा था। वह यह कि वे एम. ए. पास करके किसी कालेज में व्याख्याता हो जाएँ। उसमें आर्थिक स्थिति भी कुछ सुधरेगी, अवकाश भी रहेगा और उच्च स्तर के शिक्षण-कार्य से जुड़कर वे साहित्य के क्षेत्र में अधिक महत्त्वपूर्ण काम कर सकेंगे। परिवार का मासिक खर्च जुटाते-जुटाते वे परेशान थे। कर्ज का बोझ इस कदर बढ़ता चला जा रहा था कि उनके घर में सोने का जो एकमात्र आभूषण था, कीमत सौ रुपए, उसे उन्हें बनिए के यहाँ बंधक रखना पड़ा। उसके साथ चाँदी के दो बर्तन और एक नथ भी। वे सोचते थे, उपन्यास लिखकर इस कर्ज को पटा देंगे, और उपन्यास लिखने में लग जाते थे। माता-पिता की आर्थिक सहायता की इच्छा उनके मन में हमेशा रहती थी, लेकिन साधन का अभाव था। वे इच्छा रखकर भी कुछ कर न पाते थे। कभी-कभी यह भी सोचते कि जब अलग रहने में न स्वार्थ सिद्ध हो रहा है, न परमार्थ, तो क्यों नहीं उज्जैन लौटकर सम्मिलित रूप से ही रहा जाए? तब अपनी पूरी तनखाह परिवार को दे देंगे, पर वैसा करने का साहस न होता था। इस तरह वे चारों तरफ से घिरे थे। वे महसूस करते कि वे पाताल-लोक में हैं और उनकी आत्मा पर काले-काले साँप रेंग रहे हैं। अपनी अशक्तताएँ, समझौते, आहत स्वाभिमान सभी प्रेत बनकर उनका पीछा करते। लेकिन अगले क्षण ही निराशावाद को मुर्दाबाद कहते हुए वे उठ खड़े होते और जनता के उस सुनहले भविष्य की ओर देखने लगते, जिससे उनकी भी नियति जुड़ी थी।

1948 में मुक्तिबोध नागपुर विश्वविद्यालय से हिंदी में एम. ए. का इम्तहान देने के लिए तैयार थे, शुल्क भी जमा कर चुके थे और शांताजी को उज्जैन भी भेज चुके थे, लेकिन स्कूल ने उन्हें दो महीनों की सवैतनिक छुट्टी देने से इनकार किया। सामने ग्रीष्मावकाश था, जिसका वेतन भी नहीं मिलना था। इस प्रकार

कुल चार महीने बिना वेतन के गुजारा कर सकना मुश्किल था। पिछले दिनों भी अध्यापकों को पूरा वेतन नहीं मिला था। नेमिजी इलाहाबाद में अपना प्रेस शुरू करनेवाले थे। मुक्तिबोध ने उसी पर अपनी आशा टिका रखी थी। इधर उन्हें यह भी पता चला कि वह योजना कार्यान्वित न हो सकेगी। लिहाजा उन्हें एम० ए० का इम्तहान देने का खयाल तर्क कर देना पड़ा। अब उनके सामने फिर अंधकार था–ठंढा और कँटीला। एक-दो जगह, बंबई और दिल्ली, उन्होंने काम के लिए फिर आवेदन किया, लेकिन बेकार। हारकर उन्होंने कुछ महीने जबलपुर के दैनिक 'जयहिंद' में काम किया, यह जानते हुए भी कि वहाँ का वातावरण कम्युनिस्ट-विरोधी होने से उनके उपयुक्त न था। तत्पश्चात् कुछ दिनों तक उन्होंने महाकौशल गर्ल्स कालेज नामक एक प्राइवेट कालेज में, जो अभी मान्यता प्राप्त न था, नियमित रूप से तर्कशास्त्र के भी दो वर्ग लिए। उसके लिए उन्हें बहुत परिश्रम करना पड़ता था, उतना, जितना वे साहित्य के लिए करते, तो वह बहुत फलप्रद होता। उनका उपन्यास पूरा हो चुका था, करीब तीन सौ पृष्ठों में। वे उसे इलाहाबाद के किसी प्रकाशक के हाथों नेमिजी के माध्यम से पचास रुपयों में भी बेचना चाहते थे। महादेवी वर्मा ने वहीं साहित्यकार संसद् के नाम से एक संस्था बनाई थी, जिसका उद्देश्य था साहित्यकारों की सहायता करना। शमशेर बहादुर सिंह ने, जो नेमिजी के पास ही रह रहे थे और इलाहाबाद-यात्रा में जिनसे मुक्तिबोध की किंचित् घनिष्ठता हो गई थी, उन्हें सुझाया था कि उनका कविता-संग्रह उक्त संस्था से भी प्रकाशित हो सकता है। वे उसके लिए भी प्रयत्नशील थे। आखिरकार अक्तूबर, 1948 में वे जबलपुर को अलविदा कहकर नागपुर चले गए, मध्यप्रदेश सरकार के सूचना तथा प्रकाशन विभाग में एक पत्रकार के पद पर। नागपुर उन दिनों मध्यप्रदेश की राजधानी था। वहाँ का वेतनमान स्कूल से बेहतर था, सेवा में भी अधिक निश्चितता थी, इसलिए उन्हें उम्मीद हुई, उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होगा।

नागपुर मुक्तिबोध अकेले पहुँचे थे। पत्नी और बच्चे जबलपुर में ही थे। उनके यहाँ आने में बाधक अर्थाभाव था। वहाँ बनिए के यहाँ जो चीजें बंधक पड़ी थीं, उन्हें छुड़ाना एक समस्या थी। घर का सूनापन उन्हें काटने दौड़ता था, लेकिन उपाय क्या था? उन्होंने सोचा कि नेमिजी की मार्फत उनका उपन्यास ढाई सौ रुपयों में बिक जाता है, तो समस्या हल हो सकती है। एक प्रकाशक ने शमशेर के प्रयास से वह उपन्यास ले भी लिया, उसकी छपाई भी शुरू हुई, उसने कुछ पैसे भी दिए, लेकिन वे जबलपुर में ही खर्च हो चुके थे। तब मुक्तिबोध ने समझा था कि वे पैसे नेमिजी ने अपने पास से भेजे हैं। उपन्यास की छपाई थोड़ा आगे बढ़कर रुक गई। फिर उसका प्रकाशन कभी नहीं हुआ। उसके आगे-पीछे के कुछ

पृष्ठ 'मुक्तिबोध रचनावली' के तीसरे खंड में देखे जा सकते हैं। अपने परिवार को कुछ महीनों के बाद ही वे किसी तरह नागपुर बुला सके। सरकारी नौकरी में अभाव तो बना हुआ था ही, आजादी पर भी पाबंदी लग गई थी और जिस अनुपात में काम बढ़ा था, उसी अनुपात में निष्फलता का बोध भी बढ़ गया था। पत्नी परिस्थिति से अत्यंत असंतुष्ट थीं, पिता के साथ उन्होंने पत्राचार बंद कर दिया था। यह बात उन्हें लगातार मथित और पीड़ित करती रहती थी कि वे माता-पिता की पैसे भेजकर सहायता नहीं कर सकते। जितना ही वे उन लोगों को भुलाने की कोशिश करते, उतना ही उनके प्रति प्रेम और कर्तव्य-भावना का दंश उन्हें झेलना पड़ता। अंततः जैसे भी होता, वे यथाशक्ति उनके प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करते।

माता-पिता को रुपए भेजने के लिए उन्होंने बहुत कड़े सूद पर पठानों तक से कर्ज़ लिया। वेतन पहली तारीख को ही बँट जाता, घर के लिए कुछ न बचता। फिर परिवार चलाने के लिए सारा महीना छोटे-छोटे उधार लेने पड़ते। इन्हें पहली तारीख को चुकता करना जरूरी था। वह कर दिया जाता, लेकिन मुक्तिबोध चिंता में घुलते रहते, बड़े उधारों का क्या होगा? बहुत ही अपमान की जिंदगी थी यह, जिसे डाक्टर, पंसारी और चायवाले से मुँह चुराते हुए वे जी रहे थे। उन्हें उधार देनेवाले भी ऐसे थे, जो उनके सीधेपन का फायदा उठाकर उनसे एक के चार वसूल करते। उनके मित्र उन्हें इस संकट से उबारना चाहते थे, लेकिन एक तो कर्ज की कुल रकम ज्यादा थी, दूसरे, मुक्तिबोध स्वयं ऋणदाताओं को तरह देते, चुप-चुप जहाँ-तहाँ से हस्ताक्षर बनाकर कर्ज ले आते। उनके मित्रों को आश्चर्य होता, जो व्यक्ति संसार के अत्याचार के प्रति इतना संवेदनशील है, वह अपने साथ हो रहे अत्याचार के प्रति इतना उदासीन है ! यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उनकी दो संतानों की 1941 और 1943 में उज्जैन में मृत्यु हो चुकी थी। नागपुर में भी क्रमशः 1950 और 1956 में उन्हें दो संतानों की मृत्यु की वेदना झेलनी पड़ी। ये संतानें जुड़वाँ थीं।

मुक्तिबोध मित्रों और अतिथियों के प्रति किंचित् उदार अवश्य थे, लेकिन उनका अपना खर्चा कोई खास न था। बीड़ियाँ और उनके अनुसार दिन-भर में सिर्फ़ तीन कप चाय। वे इसे कम करने में असमर्थ थे। घर से नौ बजे सुबह दफ्तर के लिए निकलते और चार मील पैदल चलकर एक घंटे में वहाँ पहुँचते। लौटते भी वे पैदल ही साढ़े छः शाम तक, फिर अपना समय घर के कामों में देते। उनका मन अशांत रहता। वे अपने को परिवार क्या, इस दुनिया के ही अयोग्य मानने लगते। इस स्थिति में लिखना संभव न था, लेकिन वे लगातार यह महसूस करते कि उनके भीतर कुछ उबल रहा है, जो उन्हें बृहत्तर प्रश्नों को उठाने और उन्हें कविता में

अभिव्यक्त करने के लिए बाध्य कर रहा है। यदि वे उसके लिए सक्रिय न हुए, तो जीना असंभव होगा। 1949 के अतिम दिनों में वे टायफायड में पड़े, जिसने उन्हें काफी दिनों तक कमजोर बनाकर रखा; फिर भी साहित्य की ओर उनकी अभिमुखता बढ़ती गई और वह उनकी मुख्य चिंता का विषय बन गया। नागपुर में वे मित्रों से घिरे थे, लेकिन अपने मन में वस्तुतः अकेले थे। बार-बार वे सोचते, काश, उनके आत्मीय बंधु नेमिजी उनके साथ होते, तो वे साहित्य के क्षेत्र में बहुत ही सार्थक काम कर पाते। उनकी दृष्टि में 'साहित्यिक कैरियर' महत्त्वपूर्ण हो उठा था, लेकिन दूसरी ओर स्थिति यह थी कि कोई प्रकाशक उनका कविता-संग्रह, जिसे देखने की ललक उनके भीतर किसी भी दूसरे कवि की ही तरह थी, दो सौ रुपयों में क्या, मुफ्त में भी छापने को तैयार न था।

नागपुर का मुक्तिबोध का शेष जीवन उनकी उपर्युक्त परिस्थितियों का ही बढ़ाव है। उसमें चरम कोटि की निराशा के लिए स्थान है, तो आशा के लिए भी। एक तरफ वे महसूस करते कि उनका जीवन निरंतर क्षय हो रहा है, दूसरी तरफ वे अपने दरवाजे की दरारों से नई गरमाई लिए धूप को प्रवेश करते हुए देखते। एक तरफ उन्हें लगता कि सरकारी पत्रकार के रूप में उनका काम मतस्वातंत्र्य को दबाना है और दूसरी तरफ इस बात से उन्हें किंचित् गर्व का अनुभव होता कि उनका लिखा हुआ उनके पत्र में कोई पाँच हजार लोगों द्वारा प्रति सप्ताह पढ़ा जाता है। गर्व का अनुभव उनके भीतर आत्मविश्वास जगाता; उनमें अपने प्रति प्रशस्ति का भाव पैदा होता कि नागपुर में उनका कुछ प्रभाव है, वे वहाँ एक ताकत हैं, छिपी हुई ! इसी तरह एक तरफ उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ती जा रही थी, प्रत्येक महीने में कम से कम पाँच दिन अपनी अस्वस्थ पत्नी सहित वे सिर्फ चाय पर व्यतीत करते, और दूसरी तरफ उनका कहना था कि नागपुर के आरंभिक दो वर्ष तो दुःस्वप्न की तरह थे, लेकिन अब सब कुछ ठीक है! इसी समय उनके करीब कुछ स्त्रियाँ आईं, जो उनकी भावनाओं का दोहन कर अंततः उन्हें और अकेला बना गईं। पहली बार यहीं उनसे सोवियत शोधछात्रा नातालिया भी मिली थी, जिसके साथ विकसित सम्बंधों ने उनके दिल को थोड़ी राहत पहुँचाई थी। इसका जिक्र उनकी एक प्रसिद्ध कविता 'कल जो हमने चर्चा की थी' में हुआ है। वह काशी हिंदू विश्वविद्यालय (बनारस) में हिंदी में शोध कर रही थी। बाद में वह राजनाँदगाँव भी गई थी।

नागपुर का बौद्धिक और साहित्यिक परिवेश मुक्तिबोध के लिए बहुत अनुकूल न था। राजधानी होने से वहाँ भ्रष्टाचारी नेताओं, ब्लैकमेल करनेवाले पत्रकारों और अवसरवादी मजदूर-नेताओं का जमावड़ा था। साहित्यिक माहौल में थोड़ी-बहुत सप्राणता थी, लेकिन हिंदी से ज्यादा मराठी में। रामकृष्ण श्रीवास्तव और जीवनलाल

वर्मा 'विद्रोही' नागपुर के उनके साहित्यिक मित्र थे। कुछ लोग 'किरण' और 'युगांतर' नाम से साहित्यिक गोष्ठियाँ चलाते थे, जिनकी रचना और विचार-गोष्ठियों में मुक्तिबोध अक्सरहा शामिल होते। जैसाकि कहा जा चुका है, शुरू से ही उन्हें बहस करना बहुत पसंद था। वे साहित्य और सौंदर्यशास्त्र के ही नहीं, ज्ञान-विज्ञान के भी गहरे जानकार थे और रोजमर्रा की गोष्ठियों में किसी भी विषय पर अत्यंत अनुशासित और क्रमबद्ध रूप में घंटों धाराप्रवाह बोल सकते थे। उनकी प्रतिभा और विद्वत्ता से प्रभावित होकर नागपुर के मित्र उन्हें 'महागुरु' कहकर पुकारते। एक खास बात यह कि वे जिस-तिस से बहस में नहीं उलझते थे। उनके साथ बातचीत करने के लिए यह साबित करना पड़ता था कि आप उसके काबिल हैं। बहरहाल, इस माहौल से भी अधिकतम ऊर्जा खींचते हुए उन्होंने संकल्प किया कि लिखना, लिखना और लिखना है!

अब तक अपने पत्रों के माध्यम से ज्यादातर उन्हें नेमिजी समझाते थे, लेकिन अब वे आगे बढ़कर उन्हें समझाने लगते हैं, जैसे शिष्य ने गुरु का आसन ग्रहण कर लिया हो। इस प्रसंग में उनका एक पत्र खास तौर से उल्लेखनीय है, जो उन्होंने 21 फरवरी, 1954 को नेमिजी को लिखा था। नेमिजी कभी-कभी छोटी-छोटी बातों से उद्विग्न हो जाते थे। मुक्तिबोध ने उन्हें बतलाया कि वे सामान्य जीवन का अंग हैं, जिनकी उपेक्षा संभव नहीं है, लेकिन कोलंबस की तरह उनमें नई दुनियाओं के अन्वेषण की चेष्टा बेकार है। उन्होंने उन्हें लिखा कि अन्वेषक के लिए नए देश का अन्वेषण ही कोई आवश्यक नहीं। प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक अवस्था में और सभी स्तरों पर अच्छाई और सत्य के लिए निरंतर संघर्ष जारी है। हम इस संघर्ष में अपने को डुबो दें। हमारी दिशा सही हुई, तो हमारे गलत कदम भी सही दिशा में ही उठेंगे। यह दो साहित्य-स्रष्टाओं के बीच का संवाद था। मुक्तिबोध ने नेमिजी से निवेदन किया कि पारिवारिक प्रेम, समाजवादी उद्देश्य और साहित्यिक मनोवृत्ति में कोई विरोध नहीं है। ये परस्पर संबद्ध हैं, एक ही चीज के पहलू। यदि व्यक्ति के पास मानवीय परिप्रेक्ष्य हो, तो यह इस बात को समझ सकता है। वे चूँकि लेखक थे, इसलिए साहित्य पर उन्होंने विशेष बल दिया और कहा कि साहित्य-सेवा उस जनता की सेवा है, जिसके बीच से हम उठे हैं। अपने बारे में उन्होंने उनसे कहा कि अब तक उन्होंने ईमानदारी से जनता की जीवन-रक्षा से प्रेरित होकर नहीं लिखा। उनके साहित्य में जनता का चेहरा अपने सशक्त और भास्वर रंगों में प्रकट नहीं हुआ। लेकिन अब वे अपनी इस कमजोरी को दूर करेंगे। उनका जनता से गहरा भावात्मक लगाव है। उसके बिना जीवन निरर्थक है। उन्होंने जनता के प्रति प्रेम की दृष्टि से मध्यकालीन संतकवियों को आदर्श माना। स्वभावतः तमाम मुसीबतों के बावजूद मुक्तिबोध का नागपुर जीवन साहित्य-सृजन की दृष्टि से बहुत ही उर्वर है। यहीं 1953 में नागपुर विश्वविद्यालय

से द्वितीय श्रेणी में उन्होंने एम. ए. भी पास कर लिया, जो बाद में उनके लिए बहुत सहायक बना।

प्रभाकर माचवे ने एक जगह मुक्बिोध के बारे में कहा है कि उनके स्वभाव में कुछ ऐसा था कि उन्हें काँटेदार रास्ते ही पसंद थे। इसमें सच्चाई इतनी है कि वे एक सीमा के बाद समझौता नहीं कर सकते थे, जिससे परिस्थिति बिगड़ जाती थी और उनका मार्ग कंटकाकीर्ण हो जाता था। बहरहाल, हुआ यह कि सितंबर, 1954 के बाद उन्होंने मध्यप्रदेश सरकार के सूचना तथा प्रकाशन विभाग की नौकरी छोड़ दी और अक्तूबर, 1954 में आकाशवाणी, नागपुर के प्रादेशिक समाचार विभाग में चले गए। आकाशवाणी सूचना तथा प्रकाशन विभाग के दफ्तर के करीब ही स्थित थी। सूचना तथा प्रकाशन विभाग में उनका रहना कठिन बना दिया गया था, क्योंकि उनके कम्युनिस्ट होने से खुफिया पुलिस बराबर उनके पीछे लगी रहती थी। एक डी.आई.जी. ने तो यहाँ तक कोशिश की थी कि वे भेदिया बन जाएँ। उन्हें पैसे का प्रलोभन दिया गया था, लेकिन उन्होंने बड़ी विनम्रता से उसके आगे अपनी विवशता प्रकट कर दी थी। जबलपुर के बाद पार्टी में वे सक्रिय न रह गए थे, अपनी सदस्यता का उन्होंने नवीकरण भी नहीं कराया था, शायद यह सोचकर कि सरकारी नौकरी में उससे और बाधा पड़ेगी, तथापि वे सरकार की नजर में संदिग्ध थे। इसके अलावा उनके अधिकारी भी उनके प्रति द्वेष-भाव रखते थे, क्योंकि पद की दृष्टि से एक मामूली किरानी-जैसे होने पर भी बौद्धिक दृष्टि से वे उनसे बहुत बड़े थे। इस कारण वे उनके आगे अपने को हीन अनुभव करते थे। दूसरे, मुक्तिबोध जी-हुजूरी भी न कर सकते थे। इस सबके परिणामस्वरूप वे उन्हें तरह-तरह से तंग करने लगे। उनसे स्पष्टीकरण माँगने का कोई मौका न छोड़ा जाता; उनका कनफिडेंशियल और सर्विस रेकार्ड खराब किया गया। वे चाहते थे, मुक्तिबोध स्वयं नौकरी छोड़कर चले जाएँ। डर के मारे दफ्तर में उनका कोई साथ देनेवाला भी न था। 1953 में माचवे पुनः आकाशवाणी, नागपुर में लौटे। वे हिन्दी कार्यक्रम के प्रभारी थे। संयोग से वहाँ उपसमाचार संपादक के पद पर एक नियुक्ति होनेवाली थी। वेतन सूचना तथा प्रकाशन विभाग की तुलना में बेहतर था। उसके लिए जो परीक्षा हुई, उसमें मुक्तिबोध को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। लेकिन वह पद उन्हें माचवे के प्रयास से मिला, क्योंकि सरकारी सेवक के रूप में उनका रेकार्ड अच्छा नहीं था, पुलिस की रिपोर्ट भी उनके विरूद्ध थी और नागपुर के साप्ताहिक 'नया खून' में प्रकाशित होनेवाले लेखों के कारण उनकी छवि एक उग्र वामपंथी लेखक की थी। आकाशवाणी में उनकी नियुक्ति अनुबंध के आधार पर हुई। उसकी नवीनता यह थी कि औरों के साथ जहाँ अनुबंध का नवीकरण प्रत्येक तीन वर्ष पर होता था, वहाँ उनके साथ वह प्रत्येक

वर्ष करने की शर्त लगाई गई। मई, 1955 से प्रत्येक मास अनुबंध के नवीकरण की स्थिति आ गई। आकाशवाणी में आने के बाद थोड़ी आर्थिक सहूलियत हुई, तो वे नई शुक्रवारी के पुराने कच्चे मकान को छोड़कर गणेश पेठ में रहने लगे थे।

1956 में जब भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन होने लगा, तो मुक्तिबोध का तबादला आकाशवाणी, भोपाल कर दिया गया। वे वहाँ जाने के लिए प्रस्तुत थे, लेकिन चूँकि उनके अनुबंध का नवीकरण प्रत्येक मास किया जाता था, इसलिए बिलकुल अंत में वे भोपाल जाकर यह खतरा उठाने से पीछे हट गए। नागपुर में अच्छा-बुरा चल रहा था, भोपाल में तो अत्यधिक अनिश्चय की स्थिति थी, उनका सर्विस रेकार्ड इस तरह खराब किया गया था कि वहाँ उनकी नौकरी खत्म हो सकती थी। एक बात यह भी थी कि वहाँ उनसे कम अनुभववाले एक व्यक्ति को उनका अधिकारी बना दिया गया था। लिहाजा उन्होंने आकाशवाणी की नौकरी को प्रणाम किया और 'नया खून' के संपादक हो गए। इस पत्र के मालिक और संपादक स्वामी कृष्णानंद सोख्ता थे, जो कांग्रेसी थे, लेकिन मुक्तिबोध के प्रति निष्ठावान्। तबीयत से वे उग्र, ईमानदार और फक्कड़ थे। संभवतः इसी कारण स्वाभाविक रूप से मुक्तिबोध की मित्रमंडली के सदस्य बन गए थे। संकट-काल में उन्होंने मुक्तिबोध का साथ दिया और उनके मित्रों के द्वारा उनके सम्मुख प्रस्ताव रखा गया, तो वे उन्हें अपने पत्र का संपादन सौंप देने के लिए तैयार हो गए। सवा दो सौ रुपये मासिक पर 'नया खून' के संपादक के पद पर मुक्तिबोध की नियुक्ति हुई। यह 27 अक्तूबर, 1956 की बात है। आकाशवाणी की नौकरी से उन्होंने तीन-चार दिन बाद महीने की अंतिम तारीख को इस्तीफ़ा दिया।

'नया खून' में मुक्तिबोध सरकारी नौकरी में होने के कारण छद्मनामों–अग्निमित्र मालवीय, अमिताभ आदि–से पहले से ही लिखते आ रहे थे। संपादक हो जाने के बाद उसमें उन्होंने एक लड़ाकू पत्रकार की तरह राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक विषयों पर अनेक संपादकीय टिप्पणियाँ और लेख लिखकर नागपुर की चिंतन-दिशा को बदलने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस पत्र में अनाम भी उन्होंने कई लेख लिखे। स्मरणीय है कि ये संयुक्त महाराष्ट्र-आंदोलन के दिन थे। इसके साथ वे पं. द्वारिकाप्रसाद मिश्र-संपादित साप्ताहिक 'सारथी' में भी छद्मनामों–यौगंधरायण, अवंतीलाल गुप्त, विंध्येश्वरी प्रसाद आदि–से टिप्पणियाँ और लेख लिखा करते थे। नेमिचंद्र जैन ने श्रमपूर्वक 'मुक्तिबोध रचनावली' के छठे खंड में मुक्तिबोध की उक्त टिप्पणियों और लेखों को संकलित किया है। मेरा खयाल है कि अन्य अनेक छद्मनामों से उनमें प्रकाशित उनकी अनेक

टिप्पणियाँ और लेख अभी असंकलित हैं। इसी समय हरिशंकर परसाई ने जबलपुर से 'वसुधा' नाम से एक मासिक पत्रिका निकाली, जिसमें मुक्तिबोध ने नियमित रूप से लिखा, क्योंकि वे उसे नई कविता के आधुनिकतावादी रुझानों से लड़नेवाली मुख्य पत्रिका बनाना चाहते थे। उसमें तथा कुछ अन्यत्र प्रकाशित उनके लेखों का संग्रह ही उनकी अमूल्य पुस्तक 'एक साहित्यिक की डायरी' में हुआ है।

'नया खून' को सनसनीखेज पत्र के स्तर से उठाकर एक गंभीर और क्रांतिकारी पत्र बनाने के लिए उन्होंने अपनी जान लगा दी थी। परसाईजी ने उन्हें मई के महीने में नागपुर की गर्मी में सिर से सिर्फ चार-पाँच फुट ऊपर टीन की छत के नीचे बैठे काम करते हुए देखा था, बुखार में तपता शरीर लिए हुए। उनके यह आग्रह करने पर कि आप घर जाकर लेट जाइए, उन्होंने कहा था, 'कुछ भी हो, अखबार तो समय पर निकालना ही पड़ेगा और फिर ऐसा तो लगा ही रहता है।' रात को भी डेढ़-दो बजे से पहले उन्हें फुर्सत न मिलती। लेकिन 'नया खून' में भी मुक्तिबोध डेढ़ वर्ष से ज्यादा अवधि तक नहीं रह सके। सोख्ताजी मुक्तिबोध के प्रति प्रचुर आदर और प्रेम का भाव रखते थे। स्वयं प्रेस में उनके लिए दूधभरा लोटा लाते थे, लेकिन वे उनका आर्थिक कष्ट दूर करने में असमर्थ थे। वादे के मुताबिक उन्हें कुछ करना था, लेकिन उन्होंने कभी उधर पूरा ध्यान नहीं दिया। 'नया खून' में काम करते हुए भी मुक्तिबोध अभावों से जूझते ही रहे। परिवार के अलावा बीमारी के खर्च ने उन्हें तबाह कर रखा था। दूसरा लड़का दिवाकर हमेशा बीमार रहता था। उसे कई बार मेयो अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा। उनका अपना शरीर भी टूट गया था। इसके अलावा सोख्ताजी कुछ ऐसे लोगों से घिर गए थे, जो कुचक्री थे और इस कारण जिन्हें मुक्तिबोध बिलकुल पसंद न करते थे। यह पत्र छोड़ने के बाद कुछ दिनों तक वे स्वतंत्र लेखन करते रहे। उन्हें स्कूल के लिए पाठ्य पुस्तकें लिखने और पाठ्य पुस्तकों का भाषांतर करने का काम मिला। मौलिक पुस्तकें वे हिंदी में लिखते थे और उनका मराठी में अनुवाद कराया जाता था। किस्सा यह था कि वे प्रतिदिन कुछ पृष्ठ हिंदी में लिखकर देते, प्रतिदिन उसका मराठी में अनुवाद कराया जाता और प्रतिदिन अनुवादित पृष्ठ प्रेस जाते। काफी दिनों तक उनकी सामाजिक अध्ययन की पुस्तकें महाराष्ट्र में चलती रहीं।

1958 के जून में राजनाँदगाँव से शरद कोठारी नागपुर आए और उन्होंने उनसे प्रस्ताव किया कि वे राजनाँदगाँव चलें, वहाँ के दिग्विजय कालेज में व्याख्याता बनकर। सागर विश्वविद्यालय से संबद्ध यह एक नया कालेज था, 1957 से शुरू होनेवाला, जिसकी स्थापना में शरद कोठारी का महत्त्वपूर्ण योगदान था। वे 1952-54 में नागपुर के मॉरिस कालेज के छात्र रहे थे और मुक्तिबोध से वहीं

से प्रभावित थे। कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता। स्वभावतः उनकी तथा उन्हें परामर्श देनेवाले प्रमोद वर्मा-जैसे नए लेखकों की सहानुभूति मुक्तिबोध के साथ थी और वे उन्हें बेहतर जीवन-स्थिति में ले जाना चाहते थे। प्रमोद वर्मा भी नागपुर में अपना छात्र-जीवन बिताते मुक्तिबोध से प्रभावित हो चुके थे। मुक्तिबोध बेकारी का ही जीवन जी रहे थे। 1954 के नवंबर से नेमिजी स्थायी रूप से इलाहाबाद छोड़कर दिल्ली आ गए थे, संगीत नाटक अकादेमी में। वे उन्हें पहले से ही दिल्ली बुला रहे थे, क्योंकि वह साहित्यिक दृष्टि से उनके लिए अधिक उपयुक्त जगह होती, लेकिन वहाँ काम पाना निश्चित नहीं था, काम मिलता भी तो वेतन दिल्ली के हिसाब से कम, इसलिए वे चाहकर भी वहाँ जाने के लिए तैयार न हुए। वैसे किसी विश्वविद्यालय में व्याख्याता बनने की उनकी पुरानी इच्छा थी, लेकिन उसके लिए भी प्रथम श्रेणी में एम. ए. या डाक्टरेट की माँग थी। इसी समय शरद कोठारी का प्रस्ताव उनके सामने आया, जो उनके लिए चिरप्रतीक्षित था। राजनाँदगाँव छोटी-सी जगह थी, एकांत, इसलिए वहाँ जल्दी ही जी ऊब जाने का अंदेशा था, लेकिन चूँकि वहाँ के कुछ लोग उनके प्रति आदर-भाव रखते थे और उन्हें अपने यहाँ प्रेम से बुला रहे थे, वे तैयार हो गए। उन्हें आशा थी कि वहाँ उन्हें आराम करने और लिखने-पढ़ने के लिए पर्याप्त समय मिलेगा। रायपुर में एक विश्वविद्यालय खुलनेवाला था। उन्हें यह भी संभावना दिखी कि उन्हें राजनाँदगाँव से बुलाकर वहाँ रखा जा सकता है। कालेज में वेतन ज्यादा न था, लेकिन लिखाई के द्वारा अर्थोपार्जन करने का अवसर था, यह बात भी उनके ध्यान में थी। जुलाई, 1958 से उन्होंने दिग्विजय कालेज में काम शुरू किया। नागपुर से राजनाँदगाँव आने के रास्ते में एक बड़ी कठिनाई यह थी कि वहाँ मुक्तिबोध पर कुछ कर्ज ऐसा था, जिसे चुकाए बगैर वे वहाँ से न निकल सकते थे। बात कुर्की-जब्ती तक पहुँच जाती। वह कर्ज शरद कोठारी के द्वारा चुकाया गया और इस तरह वे नागपुर से मुक्त हुए।

दिग्विजय कालेज में मुक्तिबोध की नियुक्ति इस तरह हुई। शरद कोठारी के आग्रह पर उन्होंने वहाँ व्याख्याता-पद के लिए आवेदन किया। साक्षात्कार के लिए उन्हें कालेज के अवैतनिक प्राचार्य किशोरीलाल शुक्ल के समक्ष उपस्थित होना पड़ा। कालेज के उद्यान में ही साक्षात्कार संपन्न हुआ। उनके आगे सिर्फ एक शर्त रखी गई। कहा गया कि अपने सिद्धांतों के प्रति वे पूर्ण आस्था रख सकते हैं, कालेज का वातावरण इस दृष्टि से मुक्त है, लेकिन विद्यार्थियों पर अपनी विचार-धारा थोपने का आग्रह वे नहीं रखेंगे। उन्होंने यह शर्त मंजूर की और उसे अंत तक निभाया। वे संकीर्णतावादी नहीं थे, इसलिए उन्हें शर्त निभाने में कोई दिक्कत नहीं हुई। अपने सहयोगियों से बातचीत में भले उग्र हो जाते रहे हों, लेकिन

विद्यार्थियों के मामले में अपना ध्यान उन्होंने हमेशा पाठ्यक्रम पर ही केंद्रित रखा। लेकिन जिस पद पर मुक्तिबोध की नियुक्ति हुई थी, उसके लिए प्राचार्य की एक संबंधी श्रीमती वैकुंठ ने भी आवेदन किया था। वे पी-एच. डी. भी थीं। मुक्तिबोध को जब पता चला कि उन्हें छोड़कर उनका चुनाव किया गया है, तो वे अपना त्यागपत्र लेकर प्राचार्य के पास पहुँचे और उनसे निवेदन किया कि उनकी वजह से दूसरे उम्मीदवार के साथ अन्याय हुआ है, क्योंकि वे उनसे ज्यादा क्वालिफायड हैं, इसलिए उन्हें मुक्त किया जाए। प्राचार्य के आश्वस्त करने के बाद ही कि उनकी विशेष योग्यता को ध्यान में रखा गया है और दूसरे उम्मीदवार को नौकरी की वैसी जरूरत नहीं, वे कालेज में रहने के लिए तैयार हुए!

राजानाँदगाँव में मुक्तिबोध को भाग-दौड़ से निजात मिली और उनके जीवन में एक स्थिरता आई। उनका परिवार चलाने का जिम्मा किशोरीलालजी ने लिया। उनके पीछे कई डिक्रियाँ घूम रही थीं। उन्होंने ज्यों-त्यों करके सारे कर्जों का भुगतान किया-कराया या मामले को ही रफा-दफा किया। मुक्तिबोध का सारा वेतन मिलने से पहले ही उड़ जाता था। किशोरीलालजी ने उनका वेतन उनके हाथ में देना बंद कर दिया और खर्च का सारा बजट खुद बनाना शुरू किया। पाँच-सात रुपये उन्हें जेबखर्च के लिए दिए जाते थे। इस तरह उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार लाने का प्रयास किया गया और वह प्रयत्न काफी हद तक सफल भी हुआ। क्या ताज्जुब, यदि मुक्तिबोध ने अपना निबंध-संग्रह 'नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध', जो उनके मरणोपरांत नवंबर, 1964 में विश्वभारती प्रकाशन, धनवटे चेंबर्स, नागपुर से प्रकाशित हुआ, इन शब्दों के साथ किशोरीलालजी को समर्पित किया है जिनकी छत्रच्छाया में बैठकर मेरा लेखन-कार्य संपन्न हो सका'। राजनाँदगाँव लेखन की दृष्टि से वाकई मुक्तिबोध के लिए सर्वाधिक फलप्रद साबित हुआ। एक ईमानदार और परिश्रमी अध्यापक का जीवन बिताते हुए भी उन्होंने कविता और गद्य सबसे ज्यादा यहीं लिखा। यहाँ के वातावरण में जो शांति और सद्भाव था, उसने उन्हें लेखन के मोर्चे पर बहुत सक्रिय कर दिया था। यहीं उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचनाओं का सुधार और निर्माण किया। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' नामक उनकी युगांतरकारी आलोचनात्मक कृति अंतिम रूप से लिखी गई थी नागपुर में ही, लेकिन वह प्रकाशित हुई 1961 में, जबकि वे राजनाँदगाँव में थे। यह उनकी एकमात्र साहित्यिक कृति थी, जिसे उन्होंने प्रकाशित रूप में देखा था। इसके प्रकाशक जबलपुर के एक वामपंथी पुस्तक-विक्रेता शेषनारायण राय थे और अपने हिमांशु प्रकाशन, गंजीपुरा, जबलपुर से उन्होंने इसे प्रकाशित किया था। वैसे यह पुस्तक अपने आरंभिक रूप में नागपुर में एकबार छप भी चुकी थी, लेकिन वह बाहर न हुई और पड़े-पड़े नष्ट हो गई। राजनाँदगाँव में ही 1962 में पोलिश

शोधकर्त्री आग्न्येशका ने 'कवि' (बनारस) के एक पुराने अंक (अप्रैल, 1957) में प्रकाशित उनकी 'कविता' शीर्षक एक कविता से, जिसका शीर्षक बाद में उन्होंने 'ब्रह्मराक्षस' कर दिया, प्रभावित होकर उनसे संपर्क किया और दोनों के बीच ऐसी आत्मीयता कायम हो गई कि हमीदिया हॉस्पिटल (भोपाल) में जब एक भारतीय युवक से हिंदू रीति से उसके विवाह का आयोजन किया गया, मुक्तिबोध ने उसके पिता के रूप में कन्यादान किया। श्रीकांत वर्मा को लिखे गए एक पत्र में उन्होंने छत्तीसगढ़ के इलाके का, जिसमें राजनाँदगाँव पड़ता है, ऋण-स्वीकार किया है : 'उस छत्तीसगढ़ का मैं ऋणी हूँ, जिसने मुझे और मेरे बाल-बच्चों को शांतिपूर्वक जीने का क्षेत्र दिया।' यहाँ कम्युनिस्ट नेता प्रकाश राय के माध्यम से कम्युनिस्ट पार्टी से भी उनका सम्बंध बना रहा। उनकी पत्नी माधवी राय बीमार रहती थीं। उनकी सहायतार्थ उन्होंने हमीदिया हॉस्पिटल से अपने लिए इकट्ठे किए गए पैसों में से मनिआर्डर से पचास रुपए भिजवाए थे। प्रकाश राय ने उनकी भावना का खयाल कर उनमें से सिर्फ पाँच रुपए रखकर बाकी रुपए उन्हें वापस कर दिए थे।

लेकिन दुर्भाग्य ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। माता-पिता का दायित्व तो किसी न किसी अंश में उन पर हमेशा रहा ही, वे लोग राजनाँदगाँव आकर भी अपने पुत्र के यहाँ रहते थे, उनका परिवार भी छोटा नहीं रह गया था। पति-पत्नी के अलावा पाँच-छः बच्चे। दिवाकर दमे का रोगी था, जिसे यहाँ भी उन्हें मेन हॉस्पिटल में भर्ती कराना पड़ा था। पहले मुक्तिबोध वसंतपुर नामक मुहल्ले में रहे, पर बाद में उन्हें कालेज में ही मकान मिल गया तो उसमें चले आए। यह काफी बड़ा मकान था। रियासत के राजा का महल। लेकिन इसके दोनों ओर तालाब थे, जिससे वहाँ की हवा में नमी थी। नमी दमे के रोगी के लिए नुकसानदेह होती है। उससे बचाने के लिए उन्हें दिवाकर को लेकर कॉलोनी में एक अलग जगह लेनी पड़ी। इस तरह दिवाकर की चिकित्सा और परिवार की दो जगह व्यवस्था करने में उन्हें बहुत आर्थिक परेशानी उठानी पड़ी। स्थिति उनकी ऐसी थी कि ओवरकोट-जैसी चीज उन्हें कभी नसीब नहीं हुई और एकबार जाड़ों में उन्हें एक साहित्यिक समारोह में जबलपुर जाना हुआ, तो वे अपने मित्र और कालेज के उपप्राचार्य मेघनाथ कनोजे का ओवरकोट उनसे उधार माँगकर ले गए। इस घटना का भी जिक्र प्रसंगवश उनकी 'जंक्शन' नामक कहानी में आया है।

लेकिन इन अभावों और आघातों के तो वे अभ्यस्त थे। जो आघात उनके लिए मर्मांतक साबित हुआ, वह था राजनाँदगाँव में ही 1962 में उनके द्वारा लिखित एक पाठ्य पुस्तक 'भारत : इतिहास और संस्कृति' का मध्यप्रदेश की तत्कालीन कांग्रेसी सरकार द्वारा प्रतिबंधित किया जाना। यह पुस्तक, जिसे कलानिकेतन

मंदिर, लश्कर, ग्वालियर ने किंचित् संक्षिप्त रूप में प्रकाशित किया था, मध्यप्रदेश की टेक्स्ट बुक्स कमिटी द्वारा हायर सेकंडरी स्कूलों में रैपिड रीडिंग के लिए स्वीकृत हुई थी। मुक्तिबोध को आशा थी कि उसकी रायल्टी से उन्हें इतनी आय होगी कि उनका आर्थिक संकट बहुत कुछ दूर हो जाएगा, लेकिन पुस्तक का स्वीकृत होना कुछ प्रकाशकों को पसंद न आया और उन्होंने एक सांप्रदायिक राजनीतिक दल को आगे कर उसकी कुछ बातों को हिंदू धर्म और जैन धर्म पर प्रहार बतलाते हुए उसके विरुद्ध एक अभियान छेड़ दिया और राज्य सरकार से उस पर प्रतिबंध लगाने की माँग की। कई शहरों में उस पुस्तक के विरोध में सभाएँ हुईं और उसकी प्रतियाँ जलाई गईं। मुक्तिबोध ने जो कुछ लिखा था, वह कुछ प्रतिष्ठित इतिहासकारों के अनुसंधानपरक ग्रंथों के आधार पर, इसलिए वे इस दृश्य को देखकर हतप्रभ थे। यह लेखकीय स्वतंत्रता के विरुद्ध अभियान था। फासिज्म के आतंक से अभी दुनिया मुक्त नहीं हुई थी। उन्होंने इस अभियान में फासिज्म के उत्थान के संकेत देखे। उन्हें इस बात से आश्चर्य हुआ कि मध्यप्रदेश की कम्युनिस्ट पार्टी ने भी पुस्तक पर प्रतिबंध की माँग करनेवालों का ही साथ दिया। आखिरकार 19 सितंबर, 1962 को एक आदेश द्वारा सरकार ने पुस्तक को प्रतिबंधित कर दिया।

इस घटना से मुक्तिबोध के भीतर असुरक्षा का भाव, जो किसी न किसी अंश में नागपुर से ही उनमें मौजूद था और जिसके कारण वे अपने करीब आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को पहले संदेह की दृष्टि से देखते थे, बहुत बढ़ गया। वे निरंतर दुःस्वप्नों से घिरे रहने लगे। स्वास्थ्य चौपट हो ही चुका था। जबलपुर में परसाईजी के यहाँ एक रात सोए थे, तो डरावना स्वप्न देखने के कारण चीखकर खाट से फर्श पर गिर पड़े। इसी दौर में उन्होंने अपनी महान् कविता 'अँधेरे में' को अंतिम रूप प्रदान किया।

पुस्तक प्रतिबंधित होने के बाद प्रकाशक ने उच्च न्यायालय में न्याय की गुहार लगाई। मुक्तिबोध ने बहुत श्रम करके अपने पक्ष में तथ्य जुटाए, लेकिन फैसला उनके पक्ष में नहीं गया। 16 अप्रैल, 1963 के फैसले में उच्च नयायालय ने राज्य सरकार के कदम को उचित ठहराया। इतना अवश्य हुआ कि उसने आपत्तिजनक स्थलों को छोड़कर पुस्तक को प्रकाशित करने की अनुमति दे दी। 'मुक्तिबोध रचनावली' (द्वितीय संस्करण) के छठे खंड में यह पुस्तक उसी रूप में देखी जा सकती है। हाँ, इसमें वे अध्याय शामिल कर लिए गए हैं, जिन्हें प्रकाशक ने विस्तार के भय से छोड़ दिया था।

शारीरिक दृष्टि से मुक्तिबोध ध्वंस के कगार पर पहुँच गए थे। पहले भी वे बहुत स्वस्थ न थे, लेकिन अब तो उनकी लंबी-साँवली काया हड्डियों का ढाँचा-भर

रह गई थी। हाथ और पाँव दोनों में भयानक एक्जिमा। पाँव सूजे हुए। चलने, सोने और लिखने में भी बहुत ज्यादा चक्कर आने लगे थे। चक्कर आने के कारण वे कई बार चलते-चलते और साइकिल से गिर गए थे। 4 फरवरी, 1964 को उनके बाएँ अंग पर पक्षाघात का हलका आक्रमण हुआ, जिससे वे खाट पर पड़ गए। राजनाँदगाँव के स्थानीय डाक्टरों ने इलाज के दौरान आश्वस्त किया था कि वे एक महीने में रोग-मुक्त हो जाएँगे, लेकिन जब उसके लक्षण नहीं दिखलाई पड़े और स्थिति बिगड़ने लगी, तो दिल्ली स्थित श्रीकांत वर्मा ने, जिन्हें उनकी बीमारी की सूचना उनके पत्र से मिल चुकी थी, इस हिदायत के साथ कि करुणा-भाव उत्पन्न करने के लिए उनकी बीमारी का विज्ञापन न किया जाए, दिल्ली के लेखकों की ओर से एक तार भिजवाकर मध्यप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री पं. द्वारिकाप्रसाद मिश्र से आग्रह किया कि 'मुक्तिबोध की चिकित्सा शासकीय स्तर पर हो!' तार भेजनेवालों में हिंदी के मैथिलीशरण गुप्त और जैनेंद्र कुमार-जैसे लेखकों से लेकर मराठी के मामा वरेरकर-जैसे लेखक तक थे। मिश्रजी मुक्तिबोध से पूर्वपरिचित थे, साथ ही लेखकों के प्रति उनके मन में सम्मान का भाव था, इसलिए उन्होंने तुरत उनके इलाज की व्यवस्था की और मार्च में उन्हें हमीदिया हॉस्पिटल में दाखिल कराया गया, जोकि सरकारी अस्पताल है। डाक्टरों ने सेरिब्रल थ्रॉम्बॉसिस निदान बतलाया। इलाज शुरू होने पर रोग में कुछ सुधार भी हुआ, लेकिन अचानक जब उनकी दशा खराब होने लगी, तो उन्होंने परीक्षा करके घोषित किया कि वे ट्युबर्कुलर मेनिंजाइटिस से ग्रस्त हैं। मुक्तिबोध धीरे-धीरे बेहोशी की हालत में पहुँच गए। अब दिल्ली के हिंदी लेखक, जिनमें 'बच्चन' और प्रभाकर माचवे के साथ रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा-जैसे नई पीढ़ी के लेखक अच्छी संख्या में शामिल थे, तत्कालीन प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री से मिले और उन्हें मुक्तिबोध की स्थिति से अवगत कराकर उनसे अनुरोध किया कि उनकी चिकित्सा की व्यवस्था सरकार की ओर से दिल्ली के ऑल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेज में कराई जाए। प्रधानमंत्री ने लेखकों के अनुरोध को स्वीकार किया और बेहोशी की हालत में ही मुक्तिबोध 26 जून को उक्त इंस्टीट्यूट में पहुँचाए गए। स्टेशन पर नए-पुराने अनेक लेखक उपस्थित थे। मुक्तिबोध जी. टी. नामक ट्रेन से भोपाल से लाए गए थे, उसके वातानुकूलित डिब्बे में। साथ में शांताजी के साथ परसाईजी थें। इंस्टीट्यूट में डाक्टरों ने उन्हें बचाने का भरपूर प्रयास किया, लेकिन रोग इतना बिगड़ चुका था कि उन्हें सफलता नहीं मिली और 11 सितंबर, 1964 को रात्रि में करीब साढ़े आठ बजे उनका देहांत हो गया।

मुक्तिबोध का संपूर्ण जीवन एक भयानक कशमकश में बीता। परिस्थितियाँ उनकी ऐसी थीं कि वे इस कशमकश से कभी पूरी तरह उबर नहीं सके। व्यक्तिगत

परिवार और संयुक्त परिवार, निजी जीवन और सामाजिक जीवन, विचारधारा और कर्म, आजादी और सरकारी-गैरसरकारी नौकरी की पाबंदियाँ, प्रचंड रचनात्मक ऊर्जा और प्रकाशन की सीमाएँ–वे लगातार इनके खिंचाव में पड़े रहे, इस हद तक कि अंत में स्नायुमंडल जवाब दे गया। विडंबना यह कि वे हिंदी जगत् में पहचाने तब गए, जब वे इस दुनिया में न रहे। दिल्ली में इलाज की सुविधा भी उन्हें तब प्राप्त हुई, जब वे बेहोश थे। उनकी बेहोशी में ही भारतीय ज्ञानपीठ-जैसी प्रतिष्ठित प्रकाशन-संस्था से उनकी पुस्तक छपकर आई–'एक साहित्यिक की डायरी'। वहीं से उनका पहला कविता-संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', जोकि निराला की 'अनामिका' के बाद हिंदी का दूसरा वैसा महत्त्वपूर्ण कविता-संग्रह है और जिसके प्रकाशन के साथ हिंदी कविता का परिदृश्य बदलने लगता है, प्रकाशित हुआ, उनकी मृत्यु के तेरहवें दिन। मुक्तिबोध ने नेमिजी को एक पत्र में लिखा था–'नेमि बाबू, मेरी कहानी बड़ी उदास है; *कहने से क्या लाभ!!*' उनकी कहानी उदास नहीं, त्रासद है–एक संघर्षशील मध्यवर्गीय लेखक की कहानी, जिसने गलत मूल्यों के आगे अपनी पताका कभी झुकने न दी और जिसने जीवन और समाज से रौंदा जाकर भी बार-बार उन्हें वैसे प्यार किया, जैसे कोई प्रेमिका से करता है!

2
चिंतन

टी. एस. इलियट ने अपने एक लेख में कहा है कि कवि दो तरह के होते हैं—एक, जो सोचते हैं और दूसरे, जो सोचते नहीं। नहीं सोचनेवाले कवियों से उनका आशय यह नहीं है कि वे बौद्धिक क्षमता से रहित होते हैं। बौद्धिक क्षमता उनमें भी होती है, लेकिन वे उसका उपयोग विचारों का भावात्मक पर्याय प्रस्तुत करने में करते हैं, सोचने में नहीं। सोचनेवाले कवियों की विशेषता यह होती है कि उनके पास एक सुसंगत जीवन-दृष्टि होती है, एक विचार-व्यवस्था, जो वे दूसरों को देते हैं। इस आधार पर कवियों की श्रेष्ठता का निर्धारण नहीं हो सकता, लेकिन यह सही है कि मुक्तिबोध एक सोचनेवाले कवि थे। निश्चय ही सोचने का मतलब किसी दर्शन-विशेष का, वह अपना हो या पराया, सिर्फ ईमानदारी से किया गया अनुसरण नहीं है।

मुक्तिबोध मार्क्सवादी थे, यह सुपरिचित तथ्य है। अपने कवि-जीवन के आरंभ में कुछ वर्षों तक वे बर्गसाँ के प्रभाव में रहे। उनकी इस समय की कविताओं पर वह प्रभाव स्पष्ट है। बर्गसाँ का दर्शन स्पेंसर-जैसे दार्शनिकों के विधेयवाद का विरोधी था। वह विधेयवाद वस्तुतः यंत्रवाद था। लेकिन बर्गसाँ भाववादी दार्शनिक थे, भौतिकवाद को द्वंद्वात्मक ढंग से विकसित करनेवाले दार्शनिक नहीं। इस कारण मुक्तिबोध पर उनका प्रभाव तभी तक रहा, जब तक अपने मित्र नेमिचंद्र जैन के माध्यम से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से उनका परिचय नहीं हुआ। अपने वक्तव्यों, पत्रों और कविताओं में उन्होंने इस परिचय को अपने जीवन में क्रांतिकारी मोड़ लानेवाला बतलाते हुए उसके महत्त्व पर अनेक प्रकार से प्रकाश डाला है। 'तार सप्तक' के वक्तव्य में शुजालपुर मंडी में बिताए गए 1942 के दिनों के बारे में वे कहते हैं कि यहाँ उन्होंने पाँच साल की पुरानी जड़ता एक साल में दूर करने की कोशिश की। इसके लिए प्रेरणा उन्हें उस भौतिकवाद से मिली थी, जिसके पहले वे विरोधी थे। धीरे-धीरे उनका झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ और उन्हें एक अधिक वैज्ञानिक, अधिक ठोस और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण की उपलब्धि हुई। अपने वक्तव्य में उन्होंने संकेत से एक बात यह भी कही है कि मार्क्सवाद को उन्होंने स्वीकार तो कर लिया था, लेकिन उसे लेकर वे निर्द्वंद्व नहीं थे। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि यह दर्शन भी उन्हें किसी न किसी रूप में अपूर्ण

लगता था और दूसरा यह कि उसका कार्यान्वयन भी उनकी दृष्टि में ठीक-ठीक नहीं हो रहा था। उनके मार्क्सवादी वा कम्युनिस्ट होने के प्रसंग में 30 अक्तूबर, 1945 को नेमिजी को लिखा गया उनका एक पत्र उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने उनसे कहा है : 'आपने एक व्यक्ति के साथ नाजुक खेल खेला है। उसे कम्युनिस्ट बनाया, दुर्धर्ष घृणा के उत्ताप से पीड़ित।' मार्क्सवाद की प्राप्ति के बाद मुक्तिबोध बहुत हर्षोल्लसित हुए और उनके हृदय में आत्मोत्सर्ग की भावनाएँ लहराने लगीं। अपने मित्र के प्रति उनका मन कृतज्ञता से भर उठा। इन भावों की अभिव्यक्ति अत्यंत चित्रात्मक ढंग से उनकी अनेक कविताओं में हुई है, यथा 'उपकृत हूँ', 'मेरे मित्र, सहचर', 'नक्षत्र-खंड' और 'मेरे सहचर मित्र' शीर्षक कविताएँ। 'नक्षत्र-खंड' शीर्षक कविता में उन्होंने कहा है कि जनकल्याणकारी भाव-धारा उनके पास पहले भी थी, लेकिन उन्हें जरूरत थी ऐसी वैज्ञानिक विचार-धारा की, जिससे अबूझ वास्तविकताओं की व्याख्या हो सके। वह उन्हें मार्क्सवाद के रूप में प्राप्त हुई। अंतिम कविता में उन्होंने अपने मित्र से कहा है कि मार्क्सवाद का ज्ञान प्रदान कर उसने उन्हें 'सिनिक' और संशयवादी होने से बचा लिया। ताज्जुब नहीं कि उन्होंने अविलंब कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण की और नागपुर में सरकारी नौकरी में आने तक वे पार्टी-सदस्य बने रहे। जब पार्टी से उनका औपचारिक संबंध नहीं रह गया, तब भी वे कमोबेश उसकी गुप्त और प्रकट कार्यवाहियों में शामिल होते रहे और यथासंभव पार्टी का कार्य करते रहे। यह स्थिति राजनाँदगाँव में मृत्युपर्यंत रही।

मार्क्सवाद के मूल सिद्धांतों से मुक्तिबोध की पूर्ण सहमति थी। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' नामक अपनी पुस्तक में, जिसका मुख्य विषय 'कामायनी' में अभिव्यक्त जयशंकर 'प्रसाद' के भाववादी दर्शन की आलोचना है, उन्होंने कहा है कि हमारा जीवन एक त्रिकोण की तरह है। इसकी एक भुजा वस्तु-जगत् यानी वह सामाजिक परिवेश है, जो सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों, मानव-संबंधों और विविध जीवन-मूल्यों एवं आदर्शों का क्षेत्र है। दूसरी भुजा हमारा अंतरंग जीवन है, जो उक्त सामाजिक परिवेश को आत्मसात् करता हुआ अपने को उसके साथ सामंजस्य या द्वंद्व की स्थिति के लिए तैयार करता रहता है। उनका निश्चित मत है कि 'मनुष्य के अंतर्जीवन का इतिहास बाह्य द्वारा दिए गए तत्त्वों से बना हुआ होता है।' त्रिकोण की आधार-रेखा वे मनुष्य की अपनी चेतना को मानते हैं, जो उक्त दोनों भुजाओं के बिना अपना कोई रूपाकार नहीं प्राप्त कर सकती। यह चेतना वस्तुतः ऊर्जा है। उन दो में से यदि एक भी लुप्त हो, तो चेतना का कोई अर्थ ही नहीं रहता। हमारा अंतर्जीवन और उसका क्रम अपने बाह्य परिवेश और परिस्थिति से आंगिक संबंध रखता है और दोनों—भीतर और बाहर—एकान्वित होकर

हमारा जीवन बनाते हैं।

संसार के सभी धर्मों का आधार भाववादी दर्शन है। यह आकस्मिक नहीं है कि मुक्तिबोध ने अपनी कई कविताओं में धर्म और ईश्वर पर कड़ी चोट की है। 'ओ काव्यात्मन् फणिधर' शीर्षक अपनी प्रसिद्ध कविता में उन्होंने अपनी कविता की कल्पना एक सर्प के रूप में की है और उससे कहा है कि वह अँधेरी गुफा में उन क्रांतिकारी विचार-रत्नों को एकत्र करे, जिनके प्रकाश में ब्रह्म के असली रूप को पहचाना जा सकता है। यह ब्रह्म व्यक्ति के मन से उसके जगत् को अलग कर उसे स्वार्थी और आत्मकेंद्रित बना देता है। 'एक अरूप शून्य के प्रति' शीर्षक कविता में उन्होंने शून्य-साधना का उपहास करते हुए कहा है : 'बेछोर सिफर के अँधेरे में बिला-बत्ती सफर/ भी खूब है।'

आदिम सामुदायिक व्यवस्था, दासप्रथा पर आधारित व्यवस्था, सामंतवाद और कम्युनिज्म--मार्क्सवाद द्वारा निरूपित ऐतिहासिक विकास की ये अवस्थाएँ मुक्तिबोध के इतिहास और समाज-चिंतन का आधार हैं। वे जिस युग में उत्पन्न हुए थे, वह अपने देश में पूँजीवाद के विकास और सामंतवाद के ह्रास का युग था। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर साम्राज्यवाद के पतन के साथ पूँजीवाद का ह्रास भी शुरू हो गया था और उसके अंतर्विरोधें के फलस्वरूप कथित समाजवादी व्यवस्था अस्तित्व में आ गई थी। स्वभावतः उन्होंने पूँजीवाद-सामंतवाद का विरोध किया और समाजवादी समाज के स्वप्न को अपने लेखन में प्रतिफलित किया। 'विक्षुब्ध बुद्धि के मारक स्वर' उनकी एक कविता है, जिसमें उन्होंने पूँजीवाद द्वारा सामंतवाद के नाश और पूँजीवादी सभ्यता में स्वार्थपरता, निराशा और निषेध-भावना से ग्रस्त व्यक्तिवाद के उदय की चर्चा की है। पूँजीवाद अपने साथ अपनी समस्याएँ लाया है, जिनके निदान के लिए समाजवाद में उसका संक्रमण आवश्यक है, पर इतिहास में उसका कदम एक प्रगतिशील कदम है, यह भी मुक्तिबोध मानते हैं। इस प्रसंग में उनकी टिप्पणी 'अर्जेंटीना के विद्रोह की तस्वीर' द्रष्टव्य है। इसमें उन्होंने अर्जेंटीना के गर्भ में पूँजीवादी क्रांति के परिपक्व होने की कल्पना पर हर्ष प्रकट किया है।

लेकिन इस बात को लेकर उनके मन में कोई दुविधा नहीं थी कि पूँजीवाद मुनाफे पर आधारित एक ऐसी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था है, जिसमें जनता की सुख-शांति नष्ट हो जाती है। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में ही उन्होंने कहा है कि पूँजीवाद अपने मुनाफे के लिए किसी की परवाह नहीं करता—नीति, संस्कार, संस्कृति, आदर्श आदि सब हट जाते हैं। केवल मुनाफा उसका लक्ष्य है। यह मुनाफा बहुसंख्यक जनता के शोषण से ही प्राप्त हो सकता है, वह शोषण कानूनी हो या गैरकानूनी। इस धन से फिर कारोबार बढ़ाया जाता है और उससे प्राप्त धन कहने

के लिए फिर व्यावसायिक-औद्योगिक निर्माण में लगाया जाता है, जबकि वास्तविकता यह होती है कि वैसा और अधिक मुनाफा कमाने के लिए किया जाता है। पूँजीवादी समाज आर्थिक दृष्टि से एक स्वतंत्र समाज होता है, क्योंकि उसमें अपनी संपत्ति बढ़ाने के लिए खुली छूट होती है। इस कारण उसमें स्वतंत्रता की बहुत दुहाई दी जाती है। मुक्तिबोध ने मार्क्सवाद के अनुसार इस पूँजीवादी स्वतंत्रता की असलियत यह कहकर उजागर कर दी है कि इसमें चूँकि व्यक्ति के विकास का दायित्व राज्य अपने ऊपर नहीं लेता, इसलिए उसे वही व्यक्ति प्राप्त कर पाते हैं, जो साधनसंपन्न होते हैं। खुली छूट का फायदा वस्तुतः व्यापारी और इजारेदार उठाते हैं, साधारण नागरिक नहीं। मुक्तिबोध का मत था कि किसी सामाजिक व्यवस्था की आलोचना उससे उच्चतर व्यवस्था की दृष्टि से ही की जानी चाहिए। उन्होंने समाजवादी दृष्टि से पूँजीवादी व्यवस्था पर कड़े प्रहार किए। स्वतंत्रता और समानता इन दोनों मूल्यों को, जो मूलतः जनतांत्रिक मूल्य हैं, उन्होंने सर्वोपरि माना और बलपूर्वक यह मान्यता रखी कि इन्हें वर्ग-विभाजित पूँजीवादी समाज में नहीं प्राप्त किया जा सकता। व्यक्ति उनके ध्यान में हमेशा रहा। वे वस्तुतः ऐसे समाज की परिकल्पना से संचालित थे, जिसमें व्यक्ति और समाज के हितों के बीच अंतर्विरोध न हों, व्यक्ति का विकास सामाजिक विकास को समृद्ध करे और सामाजिक विकास व्यक्ति के विकास को। उन्होंने उस समाज के आदर्श को कभी विस्मृत नहीं किया, जिसकी विशेषता 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में यह बतलाई गई थी कि उसमें व्यक्ति की स्वतंत्र प्रगति समष्टि की स्वतंत्र प्रगति की शर्त होगी।.

मार्क्सवाद के अनुसार राज्य जो वर्ग आर्थिक क्षेत्र में प्रभुत्वशाली होता है, उसका राजनीतिक संगठन होता है। इसका उद्देश्य होता है यथास्थिति को बरकरार रखना और दूसरे वर्गों के विरोध को दबाना। राज्य अस्तित्व में तब आया, जब समाज वर्गों में विभाजित हुआ। वर्ग-विभाजित समाज में राज्य शोषक-वर्ग के हाथ में शोषित आबादी को दबाकर रखने का औजार बना। मुक्तिबोध 'समाजवादी समाज या अमरीकी-ब्रिटिश पूँजी की बाढ़' शीर्षक अपनी महत्त्वपूर्ण टिप्पणी में न केवल राज्य के इस चरित्र को मानकर चलते हैं, बल्कि आधुनिक काल में पूँजीवादी राज्य जो पेचीदा तरीके काम में लाता है, उनसे भी अपनी अभिज्ञता प्रदर्शित करते हैं। 'कामायनी' की आलोचना में भी एक स्थान पर उन्होंने राज्य के चरित्र की चर्चा की है और वहाँ भी पूँजीवादी राज्य के एक पेचीदा तरीके की तरफ इशारा किया है। राज्य का नियम-विधान वस्तुतः शासित वर्ग के लिए होता है। जब वही नियम-विधान किसी विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति में शासक-वर्ग के हितों के विरुद्ध चला जाता है, उसे बदलने का प्रयास किया जाता है, जिससे कि शोषक व्यवस्था

कायम रहे। इस समय यदि जनता उस परिवर्तन के विरोध में उठ खड़ी होती है, तो बलपूर्वक उसका दमन किया जाता है। शोषक सत्ता का खात्मा कैसे होता है? मुक्तिबोध कहते हैं, 'अपने कष्टानुभव की सामाजिकता से, अपनी वर्गीय विशेषता के फलस्वरूप, वे (गरीब वर्गों के लोग) तुरंत संघबद्ध होकर अपने दीर्घकालीन तथा सुविस्तृत संघर्षों को क्रांति के रूप में परिणत कर देते हैं। गरीब वर्गों के लिए क्रांति मनुष्यता का तकाजा है।' इस उद्धरण के ये सारे शब्द-समूह ध्यान देने लायक हैं––कष्टानुभव की सामाजिकता, वर्गीय विशेषता, संघबद्धता, दीर्घकालीन तथा सुविस्तृत संघर्ष, क्रांति और गरीब वर्गों के लिए क्रांति का मनुष्यता का तकाजा होना। स्पष्टतः इन शब्द-समूहों से मुक्तिबोध का मार्क्सवादी क्रांतिदर्शन प्रकट हो रहा है। वे मानते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में क्रांतिकारी वर्ग श्रमजीवी-वर्ग होता है। मुक्ति संगठन से ही संभव है, अकेले नहीं, यह बात उन्होंने 'चंबल की घाटी में' शीर्षक अपनी प्रसिद्ध कविता में भी कही है: 'कभी अकेले में मुक्ति न मिलती,/यदि वह है तो सबके ही साथ है।'

क्रांति में मुक्तिबोध की अखंड आस्था थी। इतिहास की गति के अवलोकन और इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या से उन्होंने जान लिया था कि शोषक और शोषित वर्गों का अंतर्विरोध जब चरम बिंदु पर पहुँच जाएगा, तो शोषित वर्ग अपनी संगठित शक्ति और सही नेतृत्व से शोषण पर टिकी हुई सत्ता को उखाड़ फेंकेंगे। 'जिंदगी बुरादा तो बारूद बनेगी ही' शीर्षक कविता में उन्होंने अपनी कल्पना में क्रांति को आँखों के सामने घटित होते देखा है। इस कविता में उन्होंने उन मध्यवर्गीय विद्वानों, कवियों और चिंतकों की भी क्रांतिकालीन भूमिका पर प्रकाश डाला है, जो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए शोषक-वर्ग का हर तरह से समर्थन करते हैं। जब क्रांति हो रही है, ये 'साहित्य और संस्कृति के रजतशंखधर' घंटाघर की घड़ी के काँटों को पकडकर लटके हुए हैं। ये नहीं चाहते कि इतिहास की घडी की सुइयाँ आगे खिसकें। 'अँधेरे में' शीर्षक कविता में भी मुक्तिबोध एक स्थल पर कहते हैं : 'कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ, वर्तमान समाज चल नहीं सकता।' 'वर्तमान समाज' यानी पूँजीवादी समाज! क्रांति का यह विश्वास, यह अखंड आशावाद उन्हें इतिहास से प्राप्त हुआ था। एक कविता में उन्होंने उच्च स्वर से अपनी पक्षधरता की घोषणा की है :

> धरती के विकासी द्वंद्व-क्रम में एक मेरा छटपटाता वक्ष,
> स्नेहाश्लेष या संगर कहीं भी हो
> कि धरती के विकासी द्वंद्व-क्रम में एक मेरा पक्ष,
> मेरा पक्ष, निःसंदेह !!

संसार में चलनेवाले विकासात्मक सामाजिक द्वंद्व में मुक्तिबोध तटस्थ न थे। वे

न युद्ध में तटस्थ थे, न प्रेम में। सर्वत्र वे एक छटपटाहट के साथ द्वंद्व में सम्मिलित थे। उनका एक पक्ष था, निस्संदेह। कौन-सा पक्ष, यह स्पष्ट है।

उन्हीं के हवाले से संकेत किया जा चुका है कि उन्होंने मार्क्सवाद को स्वीकार किया था, लेकिन अपने चिंतन को विराम नहीं दिया था। उनके मन की अशांति पूरी तरह से समाप्त न हुई थी, न उनके द्वंद्व का ही अंतिम रूप से शमन हुआ था। कारण यह कि उनके सामने मार्क्सवाद की अपूर्णता भी किसी हद तक प्रकट थी और वे यह भी देख रहे थे कि जिन देशों में समाजवादी व्यवस्था कायम हुई है, उन देशों में वह ठीक-ठीक मार्क्सवाद के उसूलों के मुताबिक नहीं चल रही है। मार्क्सवाद को अपूर्ण मानने के ही कारण मुक्तिबोध ने राजनीति से लेकर साहित्य तक में अनेक बार नई दिशाओं का अनुसंधान किया और समाजवाद के कार्यान्वयन में त्रुटि देखने के कारण उन्होंने विशेष रूप से सोवियत संघ की आलोचना की। मार्क्सवाद में समाजवादी क्रांति में मध्यवर्ग की जितनी भूमिका बतलाई गई थी, उन्होंने उसे उससे बढ़कर आँका और साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने कथित यथार्थवाद को अपर्याप्त बतलाया। उनका संपूर्ण लेखन इस बात का प्रमाण है। लेकिन नई दिशाओं के इस अनुसंधान पर विस्तार से विचार करने की जगह यहाँ हम सोवियत संघ की उनके द्वारा की गई आलोचना पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे।

सोवियत संघ में समाजवाद की स्थापना के क्रम में अनेक गलतियाँ की गई थीं। मुक्तिबोध ने उससे यह निष्कर्ष निकाला था कि समाजवाद का विकृतीकरण संभव है। यदि वर्ग-विशेष के विरुद्ध संघर्ष के दौरान कुछ कठोर कदम उठाए गए, तो स्थिति में परिवर्तन के अनुसार नीति बदलनी चाहिए, न कि पुरानी नीति को ही जारी रखना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया, तो यथार्थ से सम्बंध-विच्छेद हो जाएगा। 'अंतरात्मा और पक्षधरता' शीर्षक अपने निबंध में उन्होंने कहा है कि यथार्थ गतिशील है, इसलिए उसके गति-नियमों का अनुशीलन करना आवश्यक है। पुराने सिद्धांतों की व्याख्या और पुनर्व्याख्या के द्वारा नवीन उन्मेषों में व्यक्त यथार्थ की उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्पष्टतः यह जड़सूत्रवाद का विरोध है। उक्त निबंध में ही हमें उनके ये वाक्य मिलते हैं : 'जड़वाद कई तरह से प्रकट होता है। वह अध्यात्म का जामा पहनकर आता है और भौतिकवाद का भी।' यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ज्ञान के क्षेत्र में प्रयोग और अनुसंधान के पक्षधर होते हुए भी इनके नाम पर मुक्तिबोध अब तक मानव-जाति द्वारा प्राप्त किए गए ज्ञान को अस्वीकार करने के पक्ष में न थे। वे प्रयोग और अनुसंधान का एक ही मतलब समझते थे—बदली हुई परिस्थिति में बदले हुए यथार्थ के नए रूपों का उनके समग्र अंतःसम्बंधों के साथ अनुशीलन और उन्हें हृदयंगम करना। निश्चय ही यह संशोधनवाद नहीं, मार्क्सवाद का विकासमान और सृजनात्मक रूप है।

इस प्रसंग में मुक्तिबोध की दो राजनीतिक टिप्पणियाँ स्मरणीय हैं—'कम्युनिज्म का संक्रमण-काल' और 'समाजवादी राष्ट्रों की नई समस्या'। इनमें उन्होंने उस समय के कुछ समाजवादी देशों की जनतांत्रिक स्वतंत्रता को अपना समर्थन दिया है और कहा है कि आगे इस स्वतंत्रता की प्रक्रिया तेज होगी। उनके अनुसार समाजवादी विश्व में जनतांत्रिक स्वतंत्रता के बाधक स्तालिन थे। उनका युगोस्लाविया के साथ मतभेद उस देश में समाजवाद के निर्माण के अपने तरीके को लेकर था। इसी कारण उनका मतभेद चीन के साथ भी था। भिन्न-भिन्न देशों में उनकी निजी परिस्थितियों के कारण समाजवाद की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न तरीके और उसके भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं, इसे सिद्धांत में वे भी मानते थे, लेकिन वह चीज अमल में न थी। मुक्तिबोध के विचार इस मुद्दे पर बिलकुल स्पष्ट थे। उनकी मान्यता थी कि मार्क्सवाद के अनुसार समाजवाद की बुनियादी बातों में खेती और उद्योगों का समाजीकरण तथा राष्ट्र के विकास के लिए योजनाबद्ध विकास का काम शामिल है। एक बार इस बुनियादी लक्ष्य को स्वीकार कर लेने के बाद देश-देश की अपनी परिस्थितियों और विकासावस्थाओं के अनुरूप अनेक प्रकार के कार्यक्रम चलाए जा सकते हैं। यहाँ तक कि व्यक्तिगत उद्योग, व्यक्तिगत खेती और निजी संपत्ति तक को प्रश्रय दिया जा सकता है। स्वभावतः उन्होंने स्तालिनवाद का विरोध किया और कहा कि दूसरे देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों का सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रभाव में रहना आवश्यक नहीं। वे इससे भी आगे गए और सोवियत संघ पर कम्युनिस्टों द्वारा किए जानेवाले हमलों को सकारात्मक विकास माना और यह विचार व्यक्त किया कि उनके द्वारा कम्युनिस्ट पार्टियों की आजादी और देश की आजादी अधिक विकसित और मजबूत होगी। उन्होंने कम्युनिज्म के अंदर मतभेदों की सक्रियता का लक्ष्य एक राय पर आना बतलाया और अभेद में भेद के महत्त्व को रेखांकित किया। उनका यह सुदृढ़ विचार था कि सोवियत संघ की सुरक्षा का असली आधार समाजवादी देशों का एकता और भिन्नता का सम्बंध होगा, सैनिक संधियाँ नहीं।

सर्वहारा का अधिनायकवाद मुक्तिबोध को मंजूर था, बशर्ते कि वह जनता के दुश्मनों के विरुद्ध निर्दिष्ट हो और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील। पार्टी का या पार्टी-नेता का अधिनायकवाद उन्हें कतई मंजूर न था, क्योंकि उससे समाजवाद के रूप में जनतंत्र का विकास नहीं होता है, बल्कि उसका गला घोंट दिया जाता है। उनकी पूर्वोक्त दोनों टिप्पणियाँ सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस के बाद लिखी गई थीं। उसके फैसलों से कम्युनिस्ट जगत् में हलचल मच गई थी। पहली टिप्पणी के अंत में मुक्तिबोध ने लिखा कि 'कम्युनिस्ट जगत में पैदा हुई यह हलचल कल्याणकारी है और ख्रुश्चेव को इस बात के लिए

बधाई देनी चाहिए कि उसने बड़ी हिम्मत का काम किया।' इसी तरह दूसरी टिप्पणी के शुरू में उन्होंने लिखा कि 'रूस के ख्रुश्चेव ने अ-स्तालिनीकरण की जो प्रक्रिया शुरू की, वह बीच ही में नहीं रोकी जा सकती।' एक लंबे अंतराल के बाद वह प्रक्रिया गोर्बाचोव के नेतृत्व में पुनः शुरू हुई और उसने अपनी तर्कसंगत परिणति प्राप्त की। पूर्वी यूरोप के देशों से लेकर सोवियत संघ तक में समाजवादी व्यवस्था के विघटन का कारण जनतंत्र की उपेक्षा और उसमें निहित शक्ति का मूल्य कम करके ऑकना है, जिसके लिए जिम्मेवार उन देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ और उनके नेता हैं, समाजवाद-विरोधी नहीं।

मुक्तिबोध के चिंतन की विशिष्टता का पता उनके विश्वदृष्टि से सम्बंधित विचारों से चलता है। विश्वदृष्टि उनके लिए विचारधारा का पर्याय थी, लेकिन विचारधारा से उनका मतलब उस मार्क्सवाद से न था, जिसे कुछ लोग अलंकार की तरह अपने गले में डाल लेते हैं। मुक्तिबोध कवि की भावदृष्टि को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं, लेकिन उसकी सार्थकता के लिए उसका विश्वदृष्टि पर आधारित होना आवश्यक बतलाते हैं। 'भावदृष्टि'—यह शब्द अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है। पहले के कवियों ने जहाँ मात्र भाव को महत्त्व दिया, वहाँ वे चाहते हैं कि वह भाव हमारे भीतर किसी दृष्टि का भी उन्मेष करे। वे ये तमाम बातें छठे दशक की हिंदी कविता के संदर्भ में कर रहे थे, जिसे 'नई कविता' के नाम से जाना जाता है। उन्हें इस कविता के कवियों से शिकायत थी कि चूँकि उनके पास कोई केंद्रीय दृष्टि नहीं, इसलिए एक तो वे निराशा और अवसाद से घिरे रहते हैं और दूसरे, उनकी कविताएँ केवल स्वतंत्र संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ होती हैं, किसी अंतर्निहित सागर की लहर नहीं, अर्थात् उनका युग-जीवनव्यापी कोई व्यापक संदर्भ नहीं होता। 'आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि' शीर्षक अपने लेख में उन्होंने विश्वदृष्टि पर किंचित् विस्तार से विचार किया है।

मुक्तिबोध के अनुसार विश्वदृष्टि की विकास-प्रक्रिया द्वंद्वात्मक है। प्रत्येक युग में कुछ ऐसे बुनियादी तथ्य होते हैं, जो न केवल हमारे निजी जीवन पर गहरा असर डालते हैं, बल्कि देश के वर्तमान और भविष्य का भी निर्माण करते हैं। हमारे पास शिक्षा तथा संस्कृति द्वारा प्राप्त जो संचित ज्ञान है, उसके प्रकाश में हमें तथ्यों का विश्लेषण करना चाहिए। इस विश्लेषण से प्राप्त तर्कसंगत निष्कर्षों और परिणामों के आधार पर ही विश्वदृष्टि का विकास संभव है। इस प्रकार यह कहीं से उधार ली गई वस्तु नहीं, बल्कि अर्जित ज्ञान के आलोक में अनुभूत जीवन-तथ्यों के विश्लेषण द्वारा अपने भीतर विकसित की गई वस्तु है। तात्पर्य यह कि यह दृष्टि न सिर्फ ज्ञान के बल पर प्राप्त की जा सकती है, न सिर्फ अनुभव के बल पर। इसके लिए ज्ञान और निजी प्रयास दोनों का संयोग आवश्यक है। इसीलिए

इसके विकास की प्रक्रिया द्वंद्वात्मक है। स्वभावत: मुक्तिबोध ने साफ शब्दों में विश्वदृष्टि को 'सिर्फ किताबी' मानने से इनकार किया है और उसके लिए 'अनुभावात्मक ज्ञान-व्यवस्था'-जैसी सार्थक संज्ञा का प्रयोग किया है।

ज्ञान-व्यवस्था के आधार पर भाव-व्यवस्था विकसित करनेवाली बात आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इस बात से बहुत दूर नहीं है कि ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। 'एक साहित्यिक की डायरी' के एक लेख में उसके पात्र यशराज के माध्यम से मुक्तिबोध 'ज्ञानात्मक आधार' की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। वह वैज्ञानिक जानकारी के अलावा जीवन-जगत् का जो बोध है, उसका व्यापक होना, पुष्ट होना, विश्व में ज्ञान का जो विकास-स्तर प्राप्त है, उसे आत्मसात् करना और उससे आगे बढ़ना है। 'दार्शनिक पार्श्वभूमि' वाले लेख में ही उन्होंने कहा है कि कवियों में कहीं सौंदर्यवाद के नाम पर, तो कहीं अन्य किसी नाम पर यह भय समाया रहता है कि अगर हम जीवन के बुनियादी तथ्यों को ही गद्यात्मक संवेदना में प्रस्तुत करेंगे, तो लोग हमारी कृति को कलाहीन कह देंगे, हमें कम्युनिस्ट, वामपक्षी अथवा आध्यात्मिक कह देंगे। विषय चूँकि सामान्य है, इसलिए उन्होंने 'आध्यात्मिक' का भी जिक्र किया है, वर्ना उनका अपना आग्रह तो मार्क्सवाद पर है। यह जरूर है कि उनका मार्क्सवाद कोई रूढ, गतिहीन और जड ज्ञान-व्यवस्था न होकर एक नित-नवीन, गतिशील और विकासमान दर्शन है, जिसमें व्यक्ति के अपने अनुभवों और चिंतन का भी योगदान है। उनका आग्रह था कि नई कविता के कवि अपने भीतर अनुभवात्मक ज्ञान-व्यवस्था विकसित करें और उसी के आधार पर काव्य-रचना में प्रवृत्त हों। वे इस बात से सहमत नहीं थे कि विश्वदृष्टि का विकास एक बौद्धिकं कार्य है, इसलिए इसकी अपेक्षा दार्शनिकों से ही की जानी चाहिए, कवियों से नहीं।

'रचनाकार का मानवतावाद' शीर्षक निबंध में मुकितबोध ने विश्वदृष्टि अथवा अनुभवात्मक ज्ञान-व्यवस्था के लिए 'जीवन-ज्ञान-व्यवस्था' शब्द का प्रयोग किया है और उसके सम्बंध में कई महत्त्व की बातें कही हैं। सबसे पहले वे उसका सम्बंध लेखक के वर्ग से जोड़ते हैं। चूँकि लेखक की वास्तविक जीवन-प्रणाली एक विशेष वर्ग से ही संबद्ध होती है, इसलिए उस वर्ग में प्रचलित सामान्य भावधारा भी उसके विकास में योग देती है। परिणामतः उस दृष्टि के विकास में जितना अपना हाथ होता है, उतना ही पारिवारिक तथा वर्गीय क्षेत्रों का भी। इस प्रकार एक ही साथ वह दृष्टि निजगत तथा वर्गगत प्रयासों के योग का एक परिणाम है, भले ही उसके तत्त्व तथा कार्य निजी मालूम हों। इसके बाद मुक्तिबोध कहते हैं कि लेखक के अंतःकरण में स्थित जीवन-ज्ञान-व्यवस्था को किसी व्यापक विचारधारा और दर्शन के साथ जोड़ने का प्रयास होता रहता है। एक ओर लेखक स्वयं जीवन-जगत् की व्याख्या चाहता है, तो दूसरी ओर साहित्य-क्षेत्र में विभिन्न

प्रकार की विचारधाराएँ और दर्शन उस व्याख्या को लेकर उपस्थिति रहते हैं। इस प्रकार लेखक के अंतःकरण में उपस्थित जीवन-ज्ञान-व्यवस्था के साथ जीवन-जगत् की दार्शनिक व्याख्या का समन्वय हो जाता है, और वह दार्शनिक धारा लेखक को 'आत्म-विस्तार' के रूप में दिखलाई देती है।

अंतिम बात उन्होंने यह कही है कि यह आवश्यक नहीं कि लेखक जिस जीवन-ज्ञान-व्यवस्था को लेकर चलता है, उसमें कोई विकास न हो अथवा वह जिस दार्शनिक धारा को लेकर चलता है, उसमें वह अपनी ओर से कोई नवीन तत्त्व न जोड़े। इसके विपरीत वह स्वयं तो अपने आपको उस दार्शनिक धारा से परिपुष्ट करता ही है, दार्शनिक धारा की भी वह अपनी विशेष दृष्टि से व्याख्या करता हुआ उसमे नवीन अर्थ भर देता है। अब यह सहज अनुमेय है कि मुक्तिबोध की अपनी विश्वदृष्टि मार्क्सवादी होते हुए भी इतनी आत्मीय और सृजनात्मक क्यों है? उन्होंने उसे अपने भीतर अपने अनुभवों और ज्ञान के साथ-साथ असंदिग्ध रूप से मार्क्सवाद की मदद से भी विकसित किया था, लेकिन बदले में अनेक बार मार्क्सवाद में भी नवीन अर्थ भर दिया था।

मुक्तिबोध के पास एक समाज-दर्शन ही नहीं, एक काव्य-दर्शन भी था, जिसे सौंदर्य-दर्शन या सौंदर्यशास्त्र कहना ज्यादा उपयुक्त होगा। उपर्युक्त निबंध में ही उन्होंने कहा है कि विश्वदृष्टि कलात्मक विवेक का रूप धारण कर कला-सम्बंधी विचारधारा भी बन जाती है। तात्पर्य यह कि विश्वदृष्टि का विस्तार कला और साहित्य के सौंदर्य-लोक तक है।

भाववादी सौंदर्यशास्त्र मानव-मनोविज्ञान को मनुष्य के भौतिक परिवेश से विच्छिन्न मानता है और मनोवैज्ञानिक संवेदनाओं में ही सौंदर्य देखता है, भौतिक परिवेश अथवा उसकी किसी समस्या के चित्रण में नहीं। वह सौंदर्य का स्रोत आत्मा को मानता है, जिसका अर्थ यह है कि सौंदर्यानुभूति आत्म-प्रतीति और आत्म-साक्षात्कार का साधन है। स्वभावतः उसके अनुसार सौंदर्य अतींद्रिय अलौकिक सत्ता का प्रकाश है। भाववादी सौंदर्यशास्त्र की अनेक शाखाएँ हैं, प्लेटो, कांट और हेगेल से लेकर आधुनिक सौंदर्यशास्त्रियों तक फैली हुई, पर प्रायः सभी शाखाओं में ये विशेषताएँ भिन्न अनुपात और बलाघात के साथ पाई जाती हैं। 'समाज और साहित्य' शीर्षक अपने निबंध में भाववादी सौंदर्यशास्त्र की इस तरह आलोचना करने के बाद मुक्तिबोध ने आगे कहा है कि भाववादी सौंदर्यशास्त्री जगत् और मानव-इतिहास दोनों की आध्यात्मिक व्याख्या करते हैं, जिससे वे समाज को सिर्फ मनुष्य का परिवेश मानते हैं, वह मूलभूत क्रियात्मक शक्ति नहीं, जो पाशव-स्तर से उठाकर मानव-स्तर तक तथा उससे आगे भी लगातार उसकी उन्नति करती आ रही है। वे इस समाजशास्त्रीय ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया को

बिलकुल अस्वीकार करते हैं, जिसके बिना न सभ्यता का विकास संभव था, न किसी सौंदर्य-चेतना का। कहने की आवश्यकता नहीं कि मुक्तिबोध सौंदर्य का सम्बंध इसी लोक से मानते हैं, यानी मनुष्य और उसके समाज से, इनसे परे की किसी सत्ता से नहीं।

अपनी 'डायरी' के एक लेख में उन्होंने सौंदर्य की व्याख्या के क्रम में कहा है कि वह तब उत्पन्न होता है, जब सृजनशील कल्पना के सहारे संवेदित अनुभव का विस्तार हो जाए। नई कविता में कविता को व्यक्ति-केंद्रित बनाने की कोशिश की जा रही थी और कवि की अनुभूति को ही प्रामाणिक मानने पर जोर दिया जा रहा था। यह अलग से महत्त्वपूर्ण है कि मुक्तिबोध ने उसके विपरीत अनुभव और संवेदना के विस्तार की बात कही और सौंदर्य को नए ढंग से परिभाषित किया, जिसमें कल्पना कवि के अनुभव को केवल मूर्त ही नहीं करती है, उसे 'व्यक्तिबद्ध पीड़ाओं से हटाकर' यानी उसका निर्वैयक्तीकरण करते हुए उसका विस्तार भी करती है। सौंदर्य की जो शुद्धतावादी परिभाषा दी जाती है उसका कारण यह है कि कविता और जीवन, कवि-जीवन और वास्तविक जीवन, इन दोनों के बीच के जटिल सम्बंध को नहीं समझा जाता। मुक्तिबोध का कहना था कि वास्तविक जीवन ही 'विशिष्ट उद्‌भासपूर्ण क्षणों' में कवि-जीवन हो जाता है। यह उच्च मनोवैज्ञानिक स्तर पर वास्तविक जीवन का ही आविर्भाव है। यह ठीक है कि कवि-जीवन के मूल्यों की स्वतंत्र सत्ता भी है, लेकिन उसका आधार भी वास्तविक जीवन की सत्ता ही है। कवि-जीवन के मूल्य वास्तविक जीवन से ही निर्मित और नियंत्रित होते हैं, उससे स्वतंत्र नहीं होते। यदि ऐसा होता, तो साहित्य में सौंदर्य नामक जो प्रभावशाली गुण होता है, वह संभव नहीं था। यह गुण वास्तविक जीवन ही पैदा करता है और यह उस गुण से प्रभावित भी होता है। यदि सौंदर्य का प्रभाव वास्तविक जीवन पर न हो, तो सौंदर्य का अस्तित्व न रह जाए। सौंदर्य की स्थिति और लय वास्तविक जीवन पर आधारित हैं। सौंदर्य का मूल अर्थ है, एक विशेष मनोवैज्ञानिक प्रकार का प्रभाव। इस तरह वास्तविक जीवन से उसका घनिष्ठ संबंध है।

जीवनानुभूति और रसानुभूति के सम्बंध पर आचार्य शुक्ल ने भी बहुत बल दिया है। उनकी महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं में से एक यह है कि रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अंतर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक 'उदात्त' और अवदात स्वरूप है। वास्तविक अनुभूति को उदात्त और अवदात रूप तब प्राप्त होता है, जब अनुभूतिकाल में अपने व्यक्तित्व के सम्बंध की भावना का 'परिहार' हो जाता है। इसके लिए भाव के विषय का सामान्य होना आवश्यक है। 'समीक्षा की समस्याएँ' मुक्तिबोध का दूसरा महत्त्वपूर्ण निबंध है, जिसमें अपनी

मान्यता को पुनः दुहराते हुए वे कहते हैं कि सौंदर्यानुभूति अधिक 'उदात्त' स्तर पर जीवनानुभूति का ही एक रूप है और फिर यह कि इस पूरे अनुभव में आत्मबद्ध दशा का 'परिहार' होना अत्यंत आवश्यक है। आचार्य शुक्ल द्वारा प्रयुक्त 'उदात्त' और 'परिहार' दोनों शब्दों का प्रयोग यहाँ भी देखने को मिलता है, जो दोनों विचारकों के सम्बंध-सूत्र को स्पष्ट करता है।

लेकिन मुक्तिबोध ने आचार्य शुक्ल की स्थापना की पुष्टि ही नहीं की है, उसे विकसित भी किया है। आचार्य शुक्ल ने कहा था कि भाव का विषय यदि सामान्य हो, तो प्रत्यक्ष जीवन में भी हमें रसानुभूति हो सकती है। स्वदेश-प्रेम के गीत गाते हुए नवयुवकों के दल जिस साहस-भरी उमंग के साथ कोई कठिन या दुष्कर कार्य करने के लिए निकलते हैं, वह वीरत्व की रसात्मक अनुभूति है ! मुक्तिबोध का कहना है कि मनुष्य अपनी व्यक्ति-सत्ता के ऊपर उठने की प्रवृत्ति चिरकाल से रखता आया है। आत्मदशा का परिहार अन्य कार्यों में भी होता है, लेकिन उनमें उसे वैसी रसात्मक अनुभूति नहीं होती, जैसी सौंदर्यानुभूति के क्षणों में होती है। उन्होंने 'कलात्मक अनुभव' शीर्षक निबंध में मन की तीन अवस्थाओं का जिक्र किया है। उसकी पहली अवस्था आत्मबद्ध होती है, जोकि स्पष्टतः कलात्मक नहीं होती। दूसरी अवस्था में मन अपने से तटस्थ हो जाता है, लेकिन उसमें तन्मयता नहीं आती। लेकिन यह अवस्था बहुत महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि इसमें चिंतन-मनन चलता रहता है, जिससे अनुभव अधिकाधिक प्रांजल और उज्ज्वल होते जाते हैं। यह वस्तुतः 'कलात्मक चेतना का सिंहद्वार' होती है। इसी से गुजरकर कलाकार सौंदर्यानुभूति की तीसरी अवस्था में पहुँचता है। सौंदर्यानुभूति के क्षण नितांत दुर्लभ नहीं होते। दिन में कई बार मनुष्य अपनी आत्मदशा का परिहार कर रसात्मक अनुभूति की अवस्था में पहुँच जाता है। इसका विस्तार सहानुभूतिपूर्ण उदारता से लेकर विज्ञान तक है। यह प्रवृत्ति मनुष्य में मनुष्यता का विकास करनेवाली है। यह मनुष्य की व्यक्ति-सत्ता का विलोपन कर उसे एक पूरा विश्व बना देती है।

मुक्तिबोध साहित्य और जीवन के बीच घनिष्ठ सम्बंध मानते हैं, लेकिन वे जीवन के यथावत् चित्रण को साहित्य मानने के पक्ष में नहीं। उनकी मान्यता है कि कलाकार साहित्य में अपनी विधायक कल्पना के द्वारा जीवन की पुनर्रचना करता है। यह पुनर्रचना ही, जो सारतः उस जीवन का प्रतिनिधित्व करती है, जो कलाकार या अन्य लोगों द्वारा इस संसार में जिया या भोगा जाता है, कलाकृति होती है। 'साहित्य में जीवन की पुनर्रचना' शीर्षक एक अधूरे लेख में आगे उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि पुनर्रचित जीवन वास्तविक जीवन से सारतः एक होते हुए भी स्वरूपतः भिन्न होता है। यह भिन्नता उसमें सामान्यीकरण और अमूर्तीकरण

से संभव होती है। जिया और भोगा जानेवाला जीवन विशिष्ट वस्तु है। इस विशिष्ट से जीवन की पुनर्रचना यानी साहित्य में सामान्य की ओर जाया जाता है। इसका फल यह होता है कि कला का प्रभाव सार्वकालिक और सार्वजनिक हो जाता है; न केवल यह कि एक देश की कलाकृति दूसरे देश में लोकप्रिय हो जाती है, बल्कि यह भी कि दूसरे देश के अतीतकाल की कलाकृति एक देश के वर्तमान काल में भी लोकप्रिय हो जाती है। इस प्रकार देशकालातीत स्थिति प्राप्त कर कलाकृति शाश्वत साहित्य का अंग बन जाती है। इस प्रसंग में मुक्तिबोध ने और भी महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। एक तो यह कि सामान्यीकरण के कारण ही कला की स्वतंत्र सत्ता और उसके स्वतंत्र गतिनियम स्थापित हो जाते हैं। वह कला इतिवृत्तात्मक हो या रूपकात्मक, वह अनिवार्यतः स्वभाव तथा स्वगति के नियमों में बँधी होती है। दूसरी बात यह कि साहित्य में सामान्य के महत्त्व का यह अर्थ नहीं है कि उसमें विशिष्ट उपेक्षायोग्य होता है। वास्तविकता यह है कि विशिष्ट को जितनी गहराई से समझा जाता है, उसकी सामान्यता का उतना ही अधिक ज्ञान होता है। सामान्यता कला और साहित्य में हमेशा विशिष्ट के माध्यम से ही प्रकट होती है, उसे छोड़कर या उससे अलग होकर नहीं।

सौंदर्य के साथ-साथ मुक्तिबोध ने उसकी सृजन-प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला है। 'डायरी' के प्रसिद्ध लेख 'तीसरा क्षण' में वे केशव के माध्यम से कहते हैं कि सौंदर्य-प्रतीति का सम्बंध सृजन-प्रक्रिया से है और सृजन-प्रक्रिया से हटकर सौंदर्य-प्रतीति असंभव हो जाती है। संक्षेप में इसकी व्याख्या यह है कि प्राकृतिक सौंदर्य या नारी-सौंदर्य का अवलोकन व्यक्तिबद्ध होने से सही अर्थों में सौंदर्यानुभव नहीं कहा जा सकता। इस तरह सौंदर्य आत्मबद्ध दशा से ऊपर उठकर सामान्य अनुभूति की दशा में पहुँचने में है। लेकिन सौंदर्य की यह सृजन-प्रक्रिया वैसी सरल नहीं, जैसी इस कथन में दिखलाई पड़ती है। मुक्तिबोध ने अपने अनेक लेखों में, कभी संक्षेप में और कभी विस्तार में, जोड़-घटाव करते हुए, इस प्रक्रिया का वर्णन किया है, जिसे सृजन-प्रक्रिया-सम्बंधी चिंतन को उनकी देन मानना चाहिए। इस सम्बंध में ज्ञातव्य यह है कि उन्होंने जिस सृजन-प्रक्रिया का बार-बार वर्णन किया है, वह सृजन की कोई सामान्य प्रक्रिया न होकर एक विशेष प्रक्रिया है। उनके अनुसार सृजन की कोई सामान्य प्रक्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि कवि-स्वभाव, कवि-दृष्टि और विषय-वस्तु यानी रचना के कथ्य के अनुसार वह बदलती रहती है। उदाहरण के लिए आत्मपरक गीतिकाव्य की सृजन-प्रक्रिया और यथार्थवादी काव्य की सृजन-प्रक्रिया एक नहीं होती। सृजन-प्रक्रिया का कोई सामान्य रूप स्वीकार कर लेने से आलोचना में कई तरह की गड़बड़ी पैदा हो सकती है। उससे आलोचक रचना की विशिष्टता को नहीं देख पाता। वह सृजन-प्रक्रिया के अंतर्गत प्राप्त समान तत्त्वों के आधार पर सौंदर्य का एक निकष तैयार कर लेता है और

उसी पर हर तरह की रचना की परीक्षा करता है। जो रचना उस पर खरी उतरती है उसे वह सुंदर समझता है और शेष को वैसा कहने में उसे पीड़ा होती है। आचार्य शुक्ल को छायावादी काव्य असुंदर और अवांछनीय जान पड़ा था। इसी तरह कुछ मार्क्सवादी आलोचकों को नई कविता प्रतिक्रियावादी जान पड़ी है।

सृजन-प्रक्रिया के वर्णन और विश्लेषण में मुक्तिबोध ने जो अतिरिक्त दिलचस्पी दिखलाई है, वह सिर्फ सिद्धांत-निरूपण के लिए नहीं, बल्कि अपने समय की एक सच्ची और सही सृजनशीलता को बल पहुँचाने और स्थापित करने के लिए। नई कविता के दौर में छोटी कविता की रचना पर बल था और स्वभावतः 'अनुभूति के क्षण' की बात की जाती थी। मुक्तिबोध ने इन बातों का विरोध किया। उन्होंने कहा कि कला का जन्म सौंदर्यानुभूति के 'क्षण' में ही होता है, यह अनिवार्य नियम नहीं है। यदि सचमुच वैसा होता तो महाकाव्य और खंडकाव्य न लिखे जाते । तुलसीदास रामचरितमानस न लिख पाते, न एजरा पाउंड अपने लंबे कांड। आधुनिक अमरीकी कवियों ने भी बहुत लंबी कविताएँ लिखी हैं। वे क्षण की अनुभूति के घेरे में नहीं बाँधी जा सकतीं। इलियट जिन दांते को महान् मानते हैं, उनका काव्य भी क्षण का काव्य नहीं। कारण यह कि क्षण इतने दीर्घ, विस्तृत, सतत और क्रमागत नहीं हो सकते। यह संभव नहीं है कि कागज़-कलम हाथ में लेते ही वे क्षण उपस्थिति हो जाएँ, अथवा वे क्षण उपस्थित्ति होते ही कलाकृति का प्रादुर्भाव हो और वह बनती चली जाए, और जब तक वह न बने, तब तक सौंदर्यानुभूति के क्षणों का ताँता बना रहे। कलाकृति के रचना-काल में सौंदर्यानुभूति उतनी गतिमान् या दीर्घकालिक नहीं रहती, जितनी बतलाई जाती है। मुक्तिबोध मानते थे कि कलाकार का रचना-कार्य रचना के क्षण-विशेष तक सीमित न रहकर जीवनव्यापी होता है। उनकी दृष्टि में रचना भी वही श्रेष्ठ थी, जिसमें क्षणिक मनोदशा का चित्रण न होकर अधिक से अधिक स्थायी और व्यापक जीवन-यथार्थ का चित्रण हो। नई कविता को वे संवेदनात्मक प्रतिक्रिया की कविता कहते थे और उसे संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना की कविता बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। ऐसी बात नहीं है कि छोटी कविता यथार्थवादी कविता नहीं हो सकती, लेकिन उनका आग्रह ऐसी कविताओं पर था, जिनमें ऐतिहासिक शक्तियों के द्वंद्व और सामाजिक अंतर्विरोधों को व्यापक दृश्यपट पर चित्रित किया गया हो। उन्होंने स्वयं ज्यादातर लंबी कविताएँ ही लिखी हैं और उनके द्वारा वर्णित सृजन-प्रक्रिया लंबी कविताओं की ही सृजन-प्रक्रिया है। स्वभावतः ऐसी कविताओं के रचना-काल में सौंदर्यानुभूति का अखंड और एकरस प्रभाव संभव नहीं होता, क्योंकि उसमें रचनाकार का मन अनेक स्तरों पर सक्रिय रहता है और संपूर्ण सक्रियता एक तरह की नहीं होती।

मुक्तिबोध ने जिस सृजन-प्रक्रिया का वर्णन किया है, वह उनकी अपनी सृजन-प्रक्रिया भी है, लेकिन उसे सिर्फ इसी रूप में देखना सत्य को अधूरा देखना होगा। उन्होंने सृजन-प्रक्रिया के सम्बंध में जो कुछ लिखा है वह अपनी कविता का औचित्य सिद्ध करने के लिए नहीं, बल्कि जैसाकि संकेत किया गया है, एक यथार्थवादी सृजनशीलता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए। लेकिन इस बात को याद रखना जरूरी है कि उसमें विशिष्टता के बहुत ही प्रबल तत्त्व हैं। इसका ठोस सबूत यह है कि उसे सामान्य मानकर उनकी मृत्यु के बाद हिन्दी में जो अनेक लंबी कविताएँ लिखी गईं, उनमें से चर्चित तो कई हुईं, पर स्थायी महत्त्व की एकाध ही सिद्ध हुई। सृजन की कोई भी प्रक्रिया पूर्णतः सामान्य यानी यांत्रिक नहीं हो सकती। मुक्तिबोध ने सृजन-प्रक्रिता पर जो विस्तार से विचार किया, उसके पीछे उनका यह उद्देश्य भी था कि कविता में जवीन के विस्तृत क्षेत्र का प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत करने के लिए उसकी प्रभावोत्पादकता के रहस्य को समझा जाए और उसे स्वीकृत अथवा तिरस्कृत करने के पहले उसका गहराई से विश्लेषण किया जाए। कविता के गहन विश्लेषण का अर्थ है उसकी सृजन-प्रक्रिया का विश्लेषण। कहा जा चुका है कि मुक्तिबोध के अनुसार छायावादी और नई कविता की सृजन-प्रक्रिया को न समझने के कारण ही आलोचकों ने उनके सम्बंध में प्रतिकूल विचार व्यक्त किए हैं।

सृजन-प्रक्रिया-सम्बंधी मुक्तिबोध का पहला चिंतन 'डायरी' के लेख 'तीसरा क्षण' में ही मिलता है। बाद में उन्होंने 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' तथा 'काव्य की रचना-प्रक्रिया' शीर्षक लेखों में भी उसका गहराई से विश्लेषण किया। 'कलात्मक अनुभव' शीर्षक अपने निबंध में उन्होंने मन की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है और अंतिम अवस्था को 'कलात्मक चेतना का सिंहद्वार' कहा है, जिसका जिक्र ऊपर हो चुका है। कलात्मक सृजन के तीन क्षण बाद की अवस्थाएँ हैं।

सृजन का पहला क्षण जीवन का उत्कट और तीव्र अनुभव-क्षण है। यह इसी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं होता कि सृजन का आरंभिक क्षण होता है, बल्कि इस दृष्टि से भी होता है कि उसके अगले क्षण का मूल भी इसी में होता है। सृजन के इस पहले क्षण के अनुभव में ही निर्वैयक्तिकता और फैंटेसी के तत्त्व निहित होते हैं, जिनका विकास बाद के क्षणों में होता है। वस्तुतः सृजन-प्रक्रिया द्वंद्वात्मक होती है, जिसमें वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता तथा यथार्थ और कल्पना एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए विकसित होते हैं। कला के इस पहले क्षण का अनुभव जीवन के अन्य साधारण अनुभवों से भिन्न होता है, क्योंकि उसमें बीज-रूप में भोगने और देखने के परस्पर विरोधी बिंदु निहित रहते हैं। उनमें से एक स्थिति से बाँधता है, तो दूसरा उससे मुक्त करता है।

कला के दूसरे क्षण में स्थितिबद्ध संवेदना और स्थितिमुक्त दृष्टि दोनों एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करती हुई फैंटेसी को एक उच्चतर बिंदु पर खड़ा कर देती हैं। इन दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया से परिष्कृत होकर कला का दूसरा क्षण आगे बढ़ता जाता है। जब यह क्षण बहुत आगे तक प्रवाहित हो जाता है, तब आत्मपरकता में भी एक निर्वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता में भी एक आत्मपरकता उत्पन्न हो जाती है, मानो संवेदना ने दृष्टि को अपनी स्थितिबद्धता प्रदान कर उससे अपने लिए स्थितिमुक्तता ले ली हो। मतलब यह कि वे अपने गुणधर्म एक दूसरे को प्रदान कर देती हैं।

'तीसरा क्षण' में मुक्तिबोध ने यह स्थापना रखी थी कि कल्पना दूसरे क्षण में सक्रिय होकर फैंटेसी खड़ी करती है। लेकिन 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' शीर्षक लेख में उन्होंने उसमें संशोधन किया और कहा कि कल्पना का कार्य भी पहले क्षण से ही शुरू हो जाता है। दूसरे क्षण में कल्पना-शक्ति उद्दीप्त हो जाती है और संवेदना से युक्त मूल तत्त्व को समान अनुभवों और जीवन-मूल्यों से संवलित करते हुए एक संश्लिष्ट जीवन-चित्रशाला उपस्थित कर देती है। पहले क्षण से ही एक और चीज सक्रिय होती है। वह है संवदेनात्मक उद्देश्य। संवेदना में आवेग होता है, जोकि एक व्यक्तिगत चीज है, जबकि उद्देश्य में दिशा होती है, जोकि एक सामाजिक चीज है। एक का सम्बंध कलाकार के भोक्ता-मन से है, जबकि दूसरे का सम्बंध उसके द्रष्टा-मन से। ये दोनों मिलकर ही सही ढंग से रचना को प्रभावित करते हैं, वर्ना आवेगयुक्त, लेकिन दिशाहीन रचना वैसे ही महत्त्वपूर्ण नहीं होगी, जैसे दिशायुक्त, लेकिन आवेगहीन रचना प्रभावशाली नहीं होगी। मुक्तिबोध के सशक्त शब्दों में, 'संवेदनात्मक उद्देश्य मनोमय होते हुए भी जगन्मय हैं, इसीलिए विद्युन्मय हैं।' वे कलाकार की जीवन-ज्ञान-व्यवस्था अथवा विश्वदृष्टि की पीठिका पर स्थित होते हैं और उसी से संचालित और नियंत्रित होते हैं। 'काव्य की रचना-प्रक्रिया : दो' शीर्षक लेख में उन्होंने पहले दोनों क्षणों को एक में ही समन्वित करते हुए कहा है कि संवेदनात्मक उद्देश्य ही हृदय में स्थित जीवंत अनुभवों को संकलित कर उन्हें कल्पना की सहायता से उद्दीप्त और मूर्तिमान् करते हुए एक ओर प्रवाहित कर देते हैं। उन्होंने तीसरे क्षण का मूल, जोकि शब्दाभिव्यक्ति का क्षण होता है, पहले क्षण में नहीं माना है, जोकि गलत है। फैंटेसी का उन्मेष पहले क्षण में होता है, तो शब्दाभिव्यक्ति की प्रक्रिया भी उसी क्षण में शुरू होनी चाहिए, भले वह निश्चित और अंतिम रूप तीसरे क्षण में प्राप्त करे। कारण यह कि काव्य-कल्पना जो फैंटेसी को जन्म देती है, शब्दरहित नहीं हो सकती। कितने भी अविकसित रूप में क्यों न हो, शब्दाभिव्यक्ति शुरू से ही उसके साथ लगी रहती है। मुक्तिबोध ने इस बात पर खास तौर से बल दिया है कि अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में फैंटेसी परिवर्तित हो जाती है। यह कला की सापेक्ष स्वतंत्रता की

स्थापना है।

फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है, वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है, क्षण-मात्र की अनुभूति का नहीं। उस प्रवाह में वह फैंटेसी अनवरत रूप से विकसित और परिवर्तित होती हुई आगे बढ़ती जाती है। इस प्रकार वह अपने मूल रूप को बहुत कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण करती है। अंततः वह अपने मूल रूप से इतनी दूर चली जाती है कि यह कहना कठिन होता है कि उसका नया रूप अपने मूल रूप की प्रतिकृति है। वैयक्तिक से निर्वैयक्तिक होने के दौरान ही फैंटेसी कुछ ऐसे नवीन तत्त्व ग्रहण कर लेती है कि वह वास्तविक अनुभव से स्वतंत्र हो जाती है। वह अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है। उसका वह व्यक्तित्व विकासमान होता है। सृजन के तीसरे क्षण में वह पुनः बदल जाता है · शब्दबद्ध करने की प्रक्रिया के दौरान वह फैंटेसी पिघलकर उस प्रक्रिया के प्रवाह में बहने लगती है। उसके प्रवाह में उसके सारे रंग घुलकर बहने लगते हैं, उनके साथ सारा व्यक्तित्व और उसकी समस्त चेतना बहने लगती है और शब्दबद्ध होने पर जो रचना तैयार होती है, वह कला के दूसरे क्षण की फैंटेसी की पुत्री होती है, उसकी प्रतिकृति नहीं। इसीलिए मूल फैंटेसी से भी उसका व्यक्तित्व स्वतंत्र, विचित्र और पृथक् हो जाता है।

यहाँ मुक्तिबोध ने एक बात यह भी कही है कि कला के दूसरे क्षण में अनुभवप्रसूत फैंटेसी में जब तक आत्मा को नए-नए 'महत्त्व' और 'अर्थ' दिखलाई नहीं देंगे, तब तक वह आतुर-आकुल भावना में बहकर उसे शब्दबद्ध करने की ओर प्रवृत्त नहीं होगी। इस दृष्टि से देखने पर कलाकार को कला के तीनों क्षणों में अलग-अलग प्रकार से सौंदर्य-प्रतीति होती है। मुक्तिबोध के अनुसार सौंदर्य-प्रतीति कलाकार और पाठक या दर्शक दोनों के लिए एक सृजनात्मक प्रक्रिया है। जैसे कलाकार को फैंटेसी में नए-नए 'महत्त्व' और 'अर्थ' दिखलाई देते हैं, वैसे ही पाठक या दर्शक भी जब कोई काव्य अथवा उपन्यास पढ़ता, या नाटक देखता है, तो उसे नए-नए अर्थ-महत्त्व और अर्थ-संकेत प्राप्त होते जाते हैं, जिससे उसे सौंदर्य-प्रतीति होती है।

इलियट ने 'भोक्ता' और 'स्रष्टा' शब्दों का प्रयोग किया है और सृजन-प्रक्रिया में भोक्ता से स्रष्टा के पूर्ण अलगाव की बात कही है। उनके द्वारा दिया गया उदाहरण प्रसिद्ध है। ऑक्सीजन और सल्फर डायऑक्साइड से भरे हुए पात्र में यदि प्लैटिनम का एक खंड डाल दिया जाए, तो वे दोनों गैसें सल्फरस एसिड में बदल जाएँगी। उल्लेखनीय बात यह है कि यह परिवर्तन प्लैटिनम के कारण ही होता है, लेकिन सल्फरस एसिड में उसका कोई चिह्न नहीं होता। काव्य-सृजन की प्रक्रिया में

कवि-व्यक्तित्व की भूमिका प्लैटिनम-जैसी होती है, यानी वह सिर्फ माध्यम होता है। इसीसे इलियट ने अपना यह सिद्धांत निकाला कि कलाकार जितना पूर्ण होगा, उसमें भोक्ता और स्रष्टा के बीच अलगाव उतना ही ज्यादा होगा। उन्होंने साफ शब्दों में कहा है कि कवि के पास अभिव्यक्त करने के लिए कोई 'व्यक्तित्व' नहीं, बल्कि एक खास माध्यम होता है, जोकि सिर्फ माध्यम होता है, कोई व्यक्तित्व नहीं, जिसमें मनःप्रभावों और अनुभवों का विचित्र और अप्रत्याशित रूपों में मिश्रण हुआ करता है। साथ ही यह कि कला में अभिव्यक्त संवेग निर्वैयक्तिक होता है और कवि इस निर्वैयक्तिकता को तब तक प्राप्त नहीं करता, जब तक वह रची जानेवाली रचना के आगे अपने आपको पूर्णतः समर्पित नहीं कर देता। स्पष्टतः इलियट द्वारा प्रस्तुत किया गया उदाहरण यांत्रिक है, जिसे कला-सृष्टि पर पूरी तरह लागू नहीं किया जा सकता। कला एक ऐसी वस्तु है, जिसकी सृष्टि में कलाकार का व्यक्तित्व माध्यम की भी भूमिका निभाता है और किसी न किसी अंश में अपने को अभिव्यक्त भी करता है। उसमें निश्चय ही निर्वैयक्तिकता और वैयक्तिकता के बीच एक द्वंद्वात्मक संबंध होता है। इलियट ने कहा है कि कविता में अभिव्यक्त संवेग तभी सार्थक होता है, जबकि उसका जीवन-स्रोत कविता होती है, कवि का इतिहास नहीं। कविता का कवि-व्यक्तित्व से यह विच्छेद आत्यंतिक है, जिसे मुक्तिबोध स्वीकार नहीं करते।

मुक्तिबोध ने 'भोक्ता' और 'स्रष्टा' की जगह 'भोक्ता' और 'दर्शक' अथवा 'द्रष्टा' शब्दों का प्रयोग किया है, जो अधिक सार्थक इस कारण हैं कि 'भोक्ता' कवि से सम्बंधित है और 'द्रष्टा' समाज से, और 'भोक्ता' का सम्बंध संवेदना से है और 'द्रष्टा' का ज्ञान से। एक वैयक्तिक है और दूसरा निर्वैयक्तिक। निश्चय ही इलियट की सरलीकृत सृजन-प्रक्रिया की तुलना में मुक्तिबोध की सृजन-प्रक्रिया जटिल, इसलिए सत्य के अधिक निकट है। इलियट अपने 'निर्वैयक्तीकरण' के सिद्धांत को छोडने के लिए अंत-अंत तक तैयार नहीं हुए, तथापि बाद में उन्होंने उसकी सीमाओं को समझा और दो दशकों के बाद येट्स पर दिए गए अपने व्याख्यान में कहा कि कवि की एक निर्वैयक्तिकता वह भी होती है, जो उसके तीव्र एवं वैयक्तिक अनुभव से सामान्य सत्य की अभिव्यक्ति और उसके अनुभव की सभी विशिष्टताओं को बरकरार रखते हुए उससे सामान्य प्रतीक की रचना करती है।

'संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना' मुक्तिबोध की एक प्रसिद्ध अवधारणा है, जिसका अर्थ भी यहाँ स्पष्ट हो जाता है। यह केवल संवेदना और ज्ञान अथवा ज्ञान और संवेदना का परस्पर मिश्रण नहीं है, जिसे इलियट ने 'एकान्वित संवेदनशीलता' कहा है, बल्कि उससे कुछ अधिक है। 'संवेदना' और 'ज्ञान' का निश्चित अर्थ है : संवेदना का संबंध व्यक्ति से होता है, ज्ञान का समाज से; संवेदना

का सम्बंध भावना से होता है, ज्ञान का बुद्धि से; संवेदना का सम्बंध विशिष्ट से होता है, ज्ञान का सामान्य से और संवेदना का सम्बंध भोक्ता से होता है, ज्ञान का द्रष्टा से। निश्चय ही यह कथन आत्यंतिक नहीं है। 'संवेदनात्मक ज्ञान' में ज्ञान में संवेदना समाई होती है और 'ज्ञानात्मक संवेदना' में संवेदना में ज्ञान। इस तरह दोनों दोनों का जटिल सम्मिश्रण होते हैं। कविता में इनकी स्थिति तभी संभव होगी, जबकि वह किसी हद तक मुक्तिबोध-निरूपित सृजन-प्रक्रिया की देन हो, इलियट-निरूपित सृजन-प्रक्रिया की नहीं।

'तीसरा क्षण'—लेख के इस शीर्षक से स्पष्ट है कि मुक्तिबोध ने सृजन-प्रक्रिया के तीसरे क्षण को ही विशेष महत्त्व दिया है। कला का तीसरा क्षण कला का अत्यंत महत्त्वपूर्ण और पूर्ण क्षण है। यहाँ से फैंटेसी साहित्यिक अभिव्यक्ति का रूप धारण करने लगती है। शब्द-साधना शुरू होती है। शब्द के अपने ध्वनि-अनुषंग होते हैं, जिनमें चित्र और ध्वनि दोनों शामिल हैं। कलाकार अपने हृदय के तत्त्व के रंग, रूप और आकार के अनुसार अभिव्यक्ति का रंग, रूप और आकार तैयार करना चाहता है। इसलिए उसे अपने हृदय की भाव-ध्वनियों की शब्दों की अर्थ-ध्वनियों से अनवरत तुलना करनी पड़ती है। इसके दो परिणाम होते हैं। भाव-ध्वनियों को उपलब्ध शब्द-ध्वनियों के कटघरे में फँसाने के फलस्वरूप काफी मनस्तत्व अपना मौलिक और मूल तेज त्यागकर एक नए संदर्भ से संबद्ध आकार में प्रकट होते हैं। कई कवि तो भाषा की चमक और सफाई के लिए अपने भाव-तत्त्वों का बलिदान भी कर देते हैं। इस प्रकार शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में फैंटेसी की ही काट-छाँट होने लगती है। किंतु इसके विपरीत दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अभिव्यक्ति-साधना के दौरान स्वयं अभिव्यक्ति फैंटेसी को संपन्न और परिपूर्ण करने लगती है। भाषा एक जीवित परंपरा है। शब्दों में एक स्पंदन है। शब्दों में जो अर्थ-स्पंदन है, वह फैंटेसी द्वारा उद्‌बुद्ध होकर नई भाव-धाराएँ बहा देता है। वे भाव-धाराएँ फैंटेसी की समीपवर्ती भाव-धाराएँ होती हैं। उनमें अनेक नए-पुराने अनुभव, अपने-पराए भाव, सब प्रवाहित होते रहते हैं। वे भाव-धाराएँ फैंटेसी पर और फैंटेसी उन भाव-धाराओं पर क्रिया-प्रतिक्रिया करने लगती हैं, जिसके फलस्वरूप फैंटेसी का क्षेत्र और विस्तृत हो जाता है, साथ ही उसे एक नया परिप्रेक्ष्य प्राप्त हो जाता है। फैंटेसी के भीतर के मूल उद्देश्य और दिशा में विस्तार भर उठता है। नए परिप्रेक्ष्य से संयुक्त होकर फैंटेसी एक तेजोवलय में चमकने लगती है। वह अब पूर्ण रूप से सार्वजनीन हो जाती है। इस प्रकार कला के तीसरे क्षण में मूल द्वंद्व भाषा और भाव के बीच होता है।

भाषा और भाव की परस्पर प्रतिक्रिया और संघर्ष बहुत उलझे हुए होते हैं और वे उन दोनों को बदलते रहते हैं। इन दोनों में संशोधन होता जाता है। यह द्वंद्व अत्यंत महत्त्वपूर्ण और सृजनशील है। यह बात मुक्तिबोध की अपनी सृजन-प्रक्रिया

पर पूर्णतः चरितार्थ होती है। दूसरे यथार्थवादी कवियों के अभिव्यक्ति-संघर्ष में भी भाव और भाषा की क्रिया-प्रतिक्रिया किसी हद तक देखने को मिलती है, जिसके परिणामस्वरूप भाषा से भाव समृद्ध होते हैं, तो भाव भी भाषा को नई भंगिमाएँ और वक्रता प्रदान कर उसे नया बना देता है। जो कवि संवेदनहीन होते हैं, उनके लिए भाषा एक स्पंदनरहित वस्तु होती है। इस कारण न वह उनकी भाव-धारा को समृद्ध करती है, न वे उसे पुनर्रचित करते हैं। वे जिस रूप में भाषा सुलभ होती है, उसी रूप में उसका इस्तेमाल करते हैं। दूसरी ओर, जो कवि आत्मबद्ध होते हैं, सिर्फ भाषा में विपथन और विचलन लाते हैं। वे भाषा को इस तरह न बदलकर कि वह उनके भावों को चमका दे, इस तरह बदल देते हैं कि अतिविशिष्ट होकर वह असंप्रेषणीय हो जाती है। भाव और भाषा का द्वंद्व यथार्थवादी कवि की सृजन-प्रक्रिया की विशेषता है, जिसमें दोनों एक दूसरे को समृद्ध करते हैं।

इलियट ने अपने एक अन्य व्याख्यान में ड्राइडन द्वारा निरूपित कवि-कल्पना के तीन स्तरों की चर्चा की है और उनकी किंचित् विस्तृत व्याख्या करते हुए जैसे ड्राइडन को अपना समर्थन भी दिया है। कवि-कल्पना के वे तीन स्तर हैं—अन्वेषण, फैंसी और वक्तृत्व। पहले स्तर पर कवि बीज-भाव को प्राप्त करता है, दूसरे स्तर पर वह उसे अपनी फैंसी से रूपाकृति प्रदान करता है और तीसरे स्तर पर वह उसे उपयुक्त शब्दों में अभिव्यक्त करता है। ड्राइडन के शब्दों में, 'कल्पना की त्वरा अन्वेषण में, उर्वरता फैंसी में और उपयुक्तता अभिव्यक्ति में दिखलाई पड़ती है।' क्या मुक्तिबोध के तीन सृजन-क्षणों की कल्पना इसी की पुनरावृत्ति है? उन्होंने जितने गहन और विस्तृत रूप में अपने विशिष्ट अनुभवों का उपयोग करते हुए सृजन-प्रक्रिया की गतिमानता और विकासमानता का वर्णन किया है, उसे देखते हुए ऐसा नहीं माना जा सकता। लेकिन उनकी कल्पना के पीछे ड्राइडन का मत और उससे भी अधिक उसकी इलियटकृत व्याख्या की प्रेरणा थी, यह अनुमान निराधार नहीं। इलियट ने व्याख्या के क्रम में ड्राइडन द्वारा प्रयुक्त एक शब्द को पकड़कर संकेत किया है कि फैंसी के स्तर पर बीज-भाव में शाखा-विस्तार अथवा परिवर्तन भी हो सकते हैं। इससे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है।

मुक्तिबोध की आभ्यंतरीकरण और बाह्यीकरण की अवधारणा लेनिन के प्रतिबिंबन-सिद्धांत से प्रभावित है।

'वस्तु और रूप' शीर्षक लेख के चौथे प्रारूप में वे कहते हैं कि अंतस्तत्त्व-व्यवस्था बाह्य जीवन-जगत् का, अपनी वृत्तियों के अनुसार, आत्मसात् किया हुआ रूप है, लेकिन वह बाह्य जीवन-जगत् की प्रतिकृति नहीं है। हमारा मन ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान द्वारा न केवल बाह्य जीवन-जगत् को ग्रहण करता है, बल्कि वह उन गृहीत तत्त्वों का, अपने अनुसार संशोधन और

संपादन भी करता है। इसके साथ उनका कहना है कि जिस प्रकार हम संवेदनात्मक ज्ञान तथा ज्ञानात्मक संवेदना द्वारा बचपन से ही बाह्य जीवन-जगत् को आत्मसात् कर उसे मनोवैज्ञानिक रूप देते आए हैं, उसी प्रकार हम उस आत्मसात् किए हुए जीवन-जगत् को बाह्य रूप भी देते हैं। बातचीत, बहस, भाषण, लेख, वक्तव्य, कला आदि द्वारा हम उसका बाह्यीकरण करते हैं। बाह्य जीवन-जगत् का आभ्यंतरीकरण और आभ्यंतरीकृत का बाह्यीकरण एक सनातन मानव-प्रक्रिया है। 'कला आत्म-जगत् के बाह्यीकरण का ही एक मार्ग है—एक विशेष रूप है।'

प्रतिबिंबन-सिद्धांत के अनुसार प्रतिबिंबन भी बाह्य जगत् की कोई निष्क्रिय प्रतिकृति नहीं है, बल्कि एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया है, जिसमें ऐंद्रिय और बौद्धिक तथा मानसिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के क्रियाकलापों का योग होता है। यह ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें मनुष्य निष्क्रिय रूप से बाह्य जगत् से अपना सामंजस्य नहीं स्थापित करता, बल्कि स्वयं भी उसे अपने उद्देश्यों के अनुसार बदलता और ढालता है। लेनिन के शब्दों में, 'मनुष्य की चेतना वस्तु-जगत् को सिर्फ प्रतिबिंबित नहीं करती, बल्कि उसे सृजित भी करती है।' मुक्तिबोध ने अपने आपको प्रकट करने की इच्छा को 'आत्म-प्रस्थापना की वासना' कहा है। उनके अनुसार, इस आत्म-प्रस्थापना का उद्देश्य बाह्य जीवन-जगत् के साथ स्वयं को एक विशेष सामंजस्य में अथवा एक विशेष द्वंद्व में अथवा दोनों के परस्पर मिश्रित रूप में उपस्थिति करना है। तात्पर्य यह कि हम केवल बाह्य जगत् को आत्मसात् ही नहीं करते, बल्कि उसमें अपना विस्तार भी करते हैं, एक विशेष अर्थ में उस पर अपना अधिकार भी स्थापित करते हैं, और उसमें संशोधन एवं परिवर्तन भी करना चाहते हैं, जिसमें कभी सफल होते हैं और कभी असफल।

कुछ मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्रियों ने प्रतिबिंबन-सिद्धांत को मूलतः मार्क्सवादी ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र का सिद्धांत मानते हुए उसे सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में लागू करने का विरोध किया है और 'प्रतिबिंबन' के स्थान पर 'मध्यस्थता' (Mediation) शब्द के प्रयोग की सलाह दी है। उनका कहना है कि कला और साहित्य में प्रतिबिंबन नहीं होता, उनमें सामाजिक अनुभव कलात्मक अभिव्यक्ति में रूपांतरित हो जाते हैं, इसलिए 'प्रतिबिंबन' शब्द अनुपयुक्त है। इस शब्द से निष्क्रियता और यांत्रिकता की भी ध्वनि निकलती है, जबकि कला और साहित्य तथा समाज के बीच का सम्बंध न निष्क्रिय है, न यांत्रिक। उनका यह भी कहना है कि कला केवल संज्ञान नहीं है, और वह यथार्थ को प्रतिबिंबित करते हुए कलाकार को भी प्रतिबिंबित करती है, इसलिए प्रतिबिंबन-सिंद्धात को मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के आधार के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। मुक्तिबोध ने अपनी आभ्यंतरीकरण और बाह्यीकरण की अवधारणा में इस सिद्धांत का यांत्रिक रूप में इस्तेमाल नहीं किया है, बल्कि

स्वयं-आविष्कृत सिद्धांत की तरह उसे बहुत कुछ मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। समझदारी के साथ प्रतिबिंबन-सिद्धांत के इस्तेमाल पर उक्त सौंदर्यशास्त्रियों को भी विशेष आपत्ति नहीं हुई है।

आभ्यंतरीकृत जीवन-जगत् के बाह्यीकरण के प्रसंग में मुक्तिबोध ने सौंदर्याभिरुचि के सेंसर्स अथवा निषेधों का भी बार-बार उल्लेख किया है। ये निषेध कवि की आत्माभिव्यक्ति के मार्ग में बाधक होते हैं। खास वर्ग की सौंदर्याभिरुचि खास काल में प्रबल होकर अपनी रक्षा में ये निषेध विकसित करती है, जिसके परिणामस्वरूप काव्य-क्षेत्र में खास आकार, खास काट और खास रंग की कविता का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है और जो कविता उन निषेधों को नहीं मानती, उसे अस्वीकृत कर दिया जाता है। नई कविता के दौर में मुक्तिबोध को स्वयं इस अस्वीकृति का सामना करना पड़ा था। इसी कारण वे जीवन-पर्यंत जाने तो जाते रहे, पर श्रेष्ठ क्या, एक उल्लेखनीय कवि के रूप में भी माने नहीं गए। उन्होंने नई कविता की विशिष्ट सौंदर्याभिरुचि को उच्च-मध्यवर्ग की सौंदर्याभिरुचि कहा और 'वस्तु और रूप' शीर्षक लेख के प्रथम प्रारूप में बतलाया कि उच्च-मध्यवर्गीय सौंदर्याभिरुचि के अधीन होकर निम्न-मध्यवर्गीय कवि जाने-अनजाने उस चौखटे के कारण सेंसर्स लगाते रहते हैं और इस प्रकार अपने स्वयं के मानव-स्पंदन और मर्मानुभव काटते रहते हैं। जब एक प्रकार की सौंदर्यानुभूति के चौखटे के भीतर ही काव्य-रचना की जाती है, तो वह सौदर्याभिरुचि जड़ीभूत हो जाती है। मुक्तिबोध ने बलपूर्वक कहा है कि यदि हमें वैविध्यपूर्ण द्वंद्वमय मानव-जीवन के अपने अंतर में व्याप्त मार्मिक पक्षों का प्रभावशाली चित्रण करना है, तो जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि को त्यागना होगा तथा लगातार अपने चौखटों और ढाँचों में संशोधन करते रहना होगा।

सौंदर्याभिरुचि के निषेधो के साथ मुक्तिबोध ने कुछ ऐसी रूढियों की भी चर्चा की है, जिन्हें कवि स्वयं उत्पन्न करता है। रूसी मनोवैज्ञानिक पावलोव की अवधारणा का सौंदर्यशास्त्र में उपयोग करते हुए उन्होंने उन्हें साहित्यक 'कंडीशंड रिफ्लेक्सेज' कहा है। कवि अपने भावों को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए निरंतर प्रयास और अभ्यास करते रहते हैं। इसके फलस्वरूप धीर-धीरे एक अर्से के बाद उनके भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही एक संगठित इकाई बनकर उक्त 'रिफ्लेक्सेज' का रूप धारण कर लेते हैं। मुक्तिबोध के अनुसार इन 'रिफ्लेक्सेज' का बनना स्वाभाविक है। लेकिन इसके साथ यह भी स्वाभाविक है कि कवि के अंतर्व्यक्तित्व में परिवर्तन होता जाए। ऐसा होगा, तो नई भावश्रेणियों का पुराने 'रिफ्लेक्सेज' से टकराना अनिवार्य है। कहने को तो कहा जाता है कि तत्त्व अपना रूप स्वयं विकसित करता है, लेकिन वास्तविकता यह है कि इसके

लिए उसे अपेक्षित स्वतंत्रता नहीं दी जाती। तत्त्व अपने उपयुक्त रूप प्राप्त करे, इसके लिए कवि को कठिन आत्मसंघर्ष करना पड़ता है। यदि यह आत्मसंघर्ष उसने निष्ठापूर्वक चलाया, तो वह अभिव्यक्ति का नया रास्ता खोजकर रहेगा। उसके हाथ में एक पीली मद्धिम लालटेन-भर होती है, जो पूरे रास्ते को उद्घाटित करने में असमर्थ होती है। लेकिन उसी के छोटे प्रकाश-वृत्त में बढ़ता हुआ वह शनैः-शनैः पूरा रास्ता खोज लेता है।

सौंदर्यवादी और कलावादी विचारक कला की सृजन-प्रक्रिया को बिलकुल निःसंग और स्वतंत्र वस्तु बतलाते हैं और उसमें किसी 'बाहरी हस्तक्षेप' को स्वीकार नहीं करते। सृजन-प्रक्रिया निश्चय ही अकेले में चलती है, लेकिन समाज वहाँ भी रहता है। सृजन-प्रक्रिया का परिणाम यानी कलाकृति समाज पर ही अच्छा या बुरा प्रभाव डालती है। उसकी स्वतंत्रता से भी इनकार नहीं किया जा सकता, उसके अपने नियम हैं और वहाँ जोर-जबर्दस्ती नहीं चल सकती। लेकिन वह स्वतंत्रता भी निरपेक्ष नहीं होती। 'समीक्षा की समस्याएँ' शीर्षक अपने निबंध में मुक्तिबोध ने लिखा है कि यह सही है कि सृजन-प्रक्रिया की आंतरिक स्वाधीनता तथा उसके अंतर्नियम ही कला की स्वायत्त स्वतंत्र सत्ता के प्रधान लक्षण हैं और उसमें किसी भी प्रकार के बाह्यानुरोधों का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए, किंतु बाह्यानुरोध जब लेखक द्वारा आभ्यंतरीकृत विश्व और उसके मानसिक जीवन का अंग बन जाते हैं, तब उन्हें हम क्या कहेंगे? तब वे आंतरिक अनुरोध बन जाते हैं। जाहिर है कि सृजन-प्रक्रिया में 'बाह्यानुरोध' के निषेध की बात बहुत जोरों से नई कविता के दौर में मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र और प्रगतिशील कविता को ध्यान में रखकर कही गई थी। मुक्तिबोध के उक्त कथन से शोलोखोव का स्मरण आना स्वाभाविक है, जिन्होंने कहा था कि हम अपने हृदय के आदेश पर लिखा करते हैं, और हमारे हृदय पर हमारी पार्टी और हमारी जनता का अधिकार है, जिनकी सेवा हम अपनी कला के माध्यम से करते हैं। उनका यह कथन तो शोलोखोव की बात से बिलकुल मिलता है कि 'पक्षधरता का प्रश्न हमारी आत्मा का, हमारी अंतरात्मा का प्रश्न है।' यहाँ कोई चाहे तो कह सकता है कि उन्होंने अपनी पक्षधरता के पक्ष में अतिरिक्त उत्साह का परिचय दिया है, लेकिन रचना में कौन अनुरोध बाह्य है और कौन आंतरिक, इसका निर्णय तो रचना से ही हो सकता है, सिद्धांत-कथन से नहीं।

जैसे मुक्तिबोध का समाज-चिंतन और सौंदर्य-चिंतन महत्त्वपूर्ण है, वैसे ही उनका नई कविता और प्रगतिशीलता-सम्बंधी चिंतन भी। संक्षेप में उसे देख लेना भी जरूरी है, क्योंकि वह भी उनकी जीवन-ज्ञान-व्यवस्था का अंग था, उससे स्वतंत्र नहीं।

नई कविता का सारा सिद्धांत-निर्माण उस आधुनिकतावाद का प्रभाव लेकर किया गया था, जिसे मुक्तिबोध ने 'आधुनिकता-बोध' कहा है। आधुनिकतावाद में केंद्र में व्यक्ति था, व्यक्ति के अस्तित्व का संकट। इसीलिए आधुनिकतावादियों ने व्यक्ति, व्यक्ति-सत्य, अस्तित्व-बोध आदि पर अत्यधिक जोर दिया। इस संकट का कारण था पश्चिमी यूरोपीय देशों और अमरीका में पूँजीवाद तथा औद्योगीकरण का उस बिंदु पर पहुँच जाना, जहाँ समाज में जोरों से अलगाव (Alienation) की भावना फैलने लगती है। आधुनिकतावादियों ने इसे समाजवादी देशों तक ही नहीं, संपूर्ण मानव-नियति तक विस्तृत कर दिया, इस अंतर के साथ कि पूँजीवादी विश्व में, जिसे पूँजीवादी लोग 'स्वतंत्र विश्व' कहते हैं, अलगाव के बावजूद व्यक्ति स्वतंत्र निर्णय ले सकता है, जबकि समाजवादी विश्व में उसका प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने इस विचारधारा का प्रचार शुरू किया कि वर्तमान समाज-व्यवस्था में दुःख अवश्यंभावी है। उन्होंने दुःख को ही नहीं, मृत्यु तक को महिमान्वित किया। उनकी दृष्टि में मानव-नियति अपरिवर्तनीय थी, इसलिए दुःख, निराशा, विफलता, ग्लानि, विरक्ति, अगतिकता आदि भाव ही साहित्य में अभिव्यक्तियोग्य थे। उन्होंने असंतोष और विक्षोभ के भावों को प्रगतिशील दिशा देने की बात को असंगत बतलाया और उसे अयथार्थ और रूमानी स्वप्न कहकर उसका निषेध किया। मजे की बात यह है कि दायित्व, मर्यादा, आंतरिकता आदि-जैसी निरी आदर्शवादी अवधारणाओं की बेछूट दुहाई देने से उन्हें परहेज न था। मुक्तिबोध ने 'समीक्षा की समस्याएँ' शीर्षक निबंध में ही कहा कि यह है मनोभूमि आधुनिक भाव-बोध की। उसमें वास्तविक जीवन-संघर्ष का—ऐसा जीवन-संघर्ष, जो संगठित होकर संगठित विरोधियों से, शोषकों और उत्पीड़कों से, टकराता है—कहीं भी स्थान नहीं है। अस्तित्व-संघर्ष में प्राप्त मानव-साम्य के स्वप्नों का भी उसमें स्थान नहीं है। दार्शनिक और कलात्मक धरातल पर उस भाव-धारा में अच्छाई के बुराई से संघर्ष की भी कोई भावना नहीं है। असल में संघर्ष और तत्संबंधी शब्दावली से ही उसे घृणा है!

छठे दशक में हिंदी में अर्थहीनता और 'सिनिसिज्म' को मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित किया जा रहा था और एक संघर्षहीनता का वातावरण था। संघर्ष की शब्दावली को वाकई कविता से निकाल देने की कोशिश चल रही थी। मुक्तिबोध ने 1956 में 'नई कविता और आधुनिक भाव-बोध' शीर्षक से एक लेख लिखा और उसमें असली और नकली आधुनिकता-बोध का फर्क बतलाया। उन्होंने कहा कि खेद की बात यह है कि आधुनिकता के आदर्शभूत देश यूरोप-अमरीका माने गए हैं। फलतः बहुत-से कवि यूरोपीय-अमरीकी भाव-तत्त्वों को भारतीय वेश में उपस्थित करते-से दिखलाई देते हैं। यदि यूरोप-अमरीका का कवि उदास है और उसका जी काट खाने को होता है, तो हमारे यहाँ के कवि भी उदासी को फैशनेबुल समझकर कविता में उदासी का चित्रण करते हैं, जोकि गलत है। उन्होंने

आगे कहा कि नई कविता में प्रचलित बहुतेरा निराशावाद तथा जनता और समाज से अलग रहकर जीने की यह प्रवृत्ति अर्थात् व्यक्तिवाद दोनों एक दार्शनिक भूमिका में, दार्शनिक विचारधारा का रूप धारण कर, नई कविता के क्षेत्र में खूब प्रचलित हैं। भारतीय मध्यवर्गीय जीवन में आज जो अवसादपूर्ण स्थिति है, उसकी प्रधान मनोदशाओं को यूरोप-अमरीका का यह वैचारिक प्रवाह प्राप्त हो गया है। इस प्रकार नए काव्य में स्वप्न-भंग, खेद, ग्लानि और निराशा के भावों को एक वैचारिक भूमिका और दर्शन मिल जाता है, जिसमें व्यक्ति-समीक्षा, सभ्यता-परीक्षा और मानव-भाग्य-समीक्षा भी है। उन्होंने घोषित किया कि 'मैं इस वैचारिक प्रवृत्ति का विरोध करता हूँ।'

उनके उक्त लेख की अन्य जो बात ध्यान देने योग्य है, वह यह कि उन्होंने नई कविता के वर्ग-आधार की ओर संकेत किया और उसके प्रति नकारात्मक रूख नहीं अपनाया। नई कविता मध्यवर्ग के दो स्तरों–उच्च और निम्न–के द्वारा रची जा रही थी, इसलिए उसमें अनिवार्यतः अंतर्विरोध थे। उन्होंने कहा कि नई कविता का एक ही हिस्सा पश्चिमी आधुनिकता-बोध से प्रभावित है, यद्यपि वह बहुत संगठित है और संगठित रूप से अपना प्रचार-कार्य चलाता है। उसका दूसरा हिस्सा भारतीय व्यक्तित्व की रक्षा चाहता है और उसे पश्चिमी जगत् से नहीं, एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका से जोड़ना चाहता है। इन महादेशों में समाज-परिवर्तन, संघर्ष और निर्माण की प्रक्रिया जारी है। उसमें जनता और उसका नेतृत्व दोनों खूब भाग लेते हैं। वहाँ जिंदगी नए उभार पर है और वह साहित्य और अन्य कलात्मक माध्यमों में प्रकट हो रही है। नई कविता का यह हिस्सा मानसिक रूप से अपने को अल्जीरिया और इजिप्ट, कांगो और क्यूबा, सीलोन और जापान, इंडोनेशिया और अर्जेंटीना-जैसे उठते हुए देशों के निकट पाता है। दुनिया छोटी होती जा रही है। राष्ट्रीयता के भाव अंतर्राष्ट्रीयता से अलग नहीं किए जा सकते। नई कला, नई कविता, स्वयं एक अंतर्राष्ट्रीय वस्तु हो गई है, किंतु अपनी भूमि और अपने देश की मिट्टी में रँगकर ही विश्वात्मक हुआ जा सकता है, अन्यथा नहीं। स्पष्टत: नई कविता के कवियों के 'अंतर्राट्रीय झुकाव' और मुक्तिबोध की अंतर्राष्ट्रीयता में बनियादी फर्क था।

नई कविता के विरुद्ध मुक्तिबोध ने जो संघर्ष चलाया, उसकी विशेषता यह है कि उन्होंने निम्न-मध्यवर्गीय आधारवाली नई कविता को तो अपना समर्थन दिया ही, जो उच्च-मध्यवर्गीय आधारवाली नई कविता थी, उसे भी खारिज नहीं किया। उन्हें पता था कि उस कविता में भी एक सामाजिक यथार्थ प्रकट हो रहा है, यद्यपि बड़ी हद तक अतिरंजित और अनुकृत रूप में, व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के साथ। स्वातत्रयोत्तर भारत में सुशिक्षित मध्यवर्ग के लिए परिस्थिति अनुकूल नहीं रही थी।

भ्रष्टचार, अनाचार, तंगी, कलह, राग-द्वेष, दाँव-पेच के दृश्य सर्वत्र दिखलाई दे रहे थे। पैसे की कीमत बढ़ गई थी, आदमी की कीमत लगातार गिर रही थी। यह परिस्थिति आज और बिगड़ी है। ऐसी स्थिति में भारतीय कवि की कविता में उदासी और विफलता, ग्लानि और क्षोभ का चित्रण स्वाभाविक था। मुक्तिबोध ने उसे मात्र यूरोप-अमरीका का प्रभाव मानने से इनकार किया। उन्होंने यहाँ तक कहा कि कवि अपनी स्वयं की मनःस्थिति और अपने स्वयं के रुझान के अनुसार बाहर के प्रभाव ग्रहण करता है! उन्होंने विरोध अतिरंजना और अनुकृति तथा व्यक्तिवादी दर्शन का किया, खास तौर से अस्तित्ववाद का, जिसका वैचारिक शीत-युद्ध के प्रबल अस्त्र के रूप में नई कविता में कभी छिपकर और कभी खुलकर इस्तेमाल किया गया था। यहीं हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों से उनका मतभेद था, क्योंकि वे संपूर्ण नई कविता को खारिज कर रहे थे। नई कविता ने कुछ सौंदर्यात्मक और दार्शनिक प्रश्न भी उठाए थे। उन्होंने उन्हें भी नजरअंदाज किया या बहुत ही सतही ढंग से उन पर विचार किया।

प्रगतिवादी वा मार्क्सवादी आलोचना से मुक्तिबोध की शिकायत यह थी कि उसका आग्रह था कि कविता एक खास ढाँचे की होनी चाहिए। उसके पास जो ढाँचा था, वह छायावादी था या प्रगतिवादी। उसने उसी कसौटी पर नई कविता की परीक्षा की और उसे रद्द कर दिया। मार्क्सवादी आलोचकों को हिंदी कविता का बाँका-तिरछा प्रवाह पसंद न था। वे उसे खास मार्ग से बहाना चाहते थे। यह उनकी रूढ़िवादिता तो थी ही, यह उनका काव्य-सृजन की मानवीय भूमि से कटकर अपनी सिद्धांत-व्यवस्था में अटक जाना था। ऐसी बात नहीं थी कि वे जिन सिद्धांतों को दुहरा रहे थे, वे गलत थे, उनमें सच्चाई नहीं थी, लेकिन सच्चाई की भी एक घिसी-पिटी लीक हो जाती है, जिसे छोड़ने को वे तैयार नहीं थे। जब साहित्य-बोध का जीवन-बोध से सम्बंध नहीं रह जाता, तो सही सिद्धांतों की ताजगी भी समाप्त हो जाती है। उनमें वह नवीनता नहीं रह जाती, जो आकर्षण का कारण हो। मार्क्सवादी आलोचकों ने साहित्य की रचनात्मक प्रक्रियाओं में कोई दिलचस्पी नहीं ली, जिसका परिणाम यह हुआ कि वे कविता की पेचीदगियों को न समझ सके; उसमें अंतःप्रवेश कर, उसकी पर्तें उकेलते हुए, उसका वस्तुपरक विश्लेषण और मूल्यांकन न कर सके। बहुत ही सरल ढंग से उन्होंने उस पर दृष्टि डाली और उसे उठाकर खिडकी से बाहर फेंक दिया, या उसके सम्बंध में शोर मचाने लगे, जिस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। उन्होंने सोचा ही नहीं कि हिन्दी में प्रगतिवादी विचारधारा का विकास भी हो सकता है। उन्होंने नई कविता की भावात्मक और वैचारिक विभिन्नताओं और विषमताओं पर दृष्टिपात ही नहीं किया और एक पूरी काव्य-प्रणाली को पूर्णतः विकृत और प्रतिक्रियावादी घोषित कर दिया।

मुक्तिबोध ने आज से करीब तीन दशक पूर्व गहन आलोचनात्मक दृष्टि का परिचय देते हुए, 'समीक्षा की समस्याएँ' शीर्षक पूर्वोल्लिखित निबंध में, हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना ने नई कविता का जो सरलीकृत मूल्यांकन किया था, उसके प्रसंग में ये बातें कही थीं : लेखक में जो भी जहाँ भी अवांछनीय है, उसका निषेध और विरोध आवश्यक है। लेकिन समीक्षक उसे अवांछनीय क्यों समझता है? अवांछनीय क्या है, कहाँ है? उसका उद्‌गम-स्रोत क्या है? उसका स्वरूप क्या है? उसका परिणाम क्या है? और वह अवांछनीय यदि सचमुच अवांछनीय है, तो उसे कुछ लोग वांछनीय क्यों समझते हैं? उनकी दृष्टि क्या है, उनकी दृष्टि के तत्त्व क्या हैं? वे कौन लोग हैं, उनके अपने मूलाधार उनके लिए क्यों प्रिय हैं? और क्या वे मूलाधार सही नहीं हैं? नहीं हैं, तो क्यों नहीं हैं? और वे गलत हैं, तो सहीपन की मात्रा क्या है, गलती की मात्रा क्या है? सहीपन और गलती का मेल किस जगह है? और यदि किसी लेखक में अवांछनीयता है, तो उसमें उसके साथ वांछनीय क्या है, उसका स्वरूप क्या है, वह क्योंकर है? और क्या उसमें वांछनीयता का सर्वथा अभाव है, और यदि ऐसा है, तो क्योंकर है? और यदि उसमें अवांछनीय तत्त्व और वांछनीय विशेषताएँ हैं, तो अवांछनीय के अनुपात में वह वांछनीय कितना है, वांछनीय का अवांछनीय से जो मिश्रण है, वह क्यों हुआ? वह कहाँ-कहाँ कैसा-कैसा है? वांछनीय और अवांछनीय तत्त्वों से मिलकर जो कलाकृति प्रस्तुत हुई है, उसका मूल्य क्या है? और क्या उस लेखक या साहित्य-प्रवृत्ति की जीवन-भूमि पर इस तरह प्रकाश डाला जा सकता हैं, जिससे वांछनीय और अवांछनीय तत्त्वों पर नया प्रकाश पड़ सके, उसकी नई व्याख्या हो सके? उस जीवन-भूमि का पारिवारिक, सामाजिक, वर्गीय और युगीन वातावरण से, किस तरह का, क्या संबंध है? क्या इन सारी बातों पर प्रकाश डाले बिना, उनकी पेचीदगियों और बारीकियों में फँसे बगैर, वास्तविक साहित्य-समीक्षा, वास्तविक कला-समीक्षा हो सकती है? वास्तविक कलात्मक और समीक्षात्मक विवेक संभव है? जाहिर है, नई कविता के प्रति मार्क्सवादी आलोचना के रवैए से मुक्तिबोध बहुत ज्यादा असंतुष्ट थे। मार्क्सवादी आलोचना के विकास के लिए उनकी बातों का आज भी उतना ही महत्त्व है। उन्होंने जो प्रश्न रखे थे, उनसे टकराकर ही मार्क्सवादी आलोचना आगे जा सकती है, अन्यथा नहीं।

उन्होंने प्रगतिशील आलोचना पर चोटें करने के साथ-साथ रचनात्मक प्रगतिशील लेखन पर भी चोटें कीं। इससे उत्साहित होकर प्रगतिविरोधी कुछ विद्वानों ने उन्हें प्रगतिशील लेखन और आंदोलन के विरोध में खड़ा करने की कोशिश की है। यह कोशिश हास्यापद है, क्योंकि उनकी उक्त चोटें प्रगतिशील लेखन को नकारने के लिए नहीं, उसे और शक्तिशाली बनाने के लिए थीं। उनकी यह आलोचना इस बात का सबूत है कि प्रगतिशील आंदोलन में ऐसे भी लेखक

थे, जिन्हें प्रगतिशील लेखन की सीमाओं का पूरा ज्ञान था और जो उसे उनसे मुक्त करने के लिए आंदोलन के भीतर तीखा संघर्ष चला सकते थे। यह प्रगतिशील आंदोलन की शक्ति का प्रमाण था, उसकी दुर्बलता का नहीं। मुक्तिबोध की चिंता के केंद्र में प्रगतिशील आंदालेन के फैलाव की समस्या थी। 'मेरी माँ ने मुझे प्रेमचंद का भक्त बनाया' शीर्षक उनके लेख का उल्लेख पहले हो चुका है। उसमें कही गई उनकी यह बात भी उद्धृत की जा चुकी है कि मेरी माँ यह कभी न जान सकी कि वह प्रेमचंद के पात्रों का मर्म-विवेचन करके मेरे किशोर हृदय में किस क्रांति का बीज बो रही है। प्रेमचंद के सभापतित्व में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। उनके बाद मुक्तिबोध ने अपने कृतित्व के रूप में साहित्य में प्रगतिशील चेतना के प्रसार के लिए सबसे जोरदार अस्त्र प्रदान किया। 'साहित्य में नए जनवादी मोर्चे की आवश्यकता' और 'जनवादी सांस्कृतिक गोष्ठियों की एक रूपरेखा' शीर्षक उनकी दो टिप्पणियाँ प्रगतिशील आंदोलन के प्रसार-संबंधी उनकी चिंता को अच्छी तरह हमारे सामने लाती हैं। बाद में उन्होंने डा० नामवर सिंह और कम्युनिस्ट पार्टी के नेता एस० ए० डांगे को लिखे गएं पत्रों में क्रमशः प्रगतिशील आंदोलन को फिर से चलाने की अपनी इच्छा प्रकट की और आंदोलन चलाने के लिए एक पूरा कार्यक्रम प्रस्तुत किया। निश्चय ही इस बार वे आंदोलन को सांगठनिक और सैद्धांतिक दोनों ही स्तरों पर विगत अनुभवों से फायदा उठाते हुए किंचित् भिन्न रूप में चलाने के पक्ष में थे।

मुक्तिबोध का संघर्ष विकट था—रचना के स्तर पर संघर्ष, नई कविता की प्रतिक्रियावादी मोर्चेबंदी के विरुद्ध संघर्ष और प्रगतिशील लेखन के भीतर संघर्ष। उनके जीवन-काल में वह संघर्ष फलीभूत न हुआ, लेकिन उनकी मृत्यु के साथ जब उनका साहित्य प्रकाश में आया, तो देखते-देखते नई कविता की कल्पित मान्यताओं का गढ़ भहराकर गिर पड़ा और प्रगतिशील लेखन भी वह न रह गया, जो वह उससे पहले था।

3
सृजन

वर्तमान युग में मानव-नियति को राजनीति की परिभाषाओं में ही समझा जा सकता है, अब यह मान्यता लगभग सर्वस्वीकृत है। लूकाच से असहमति प्रकट करते हुए ब्रेख्त ने भी इस बात पर बल दिया है कि यथार्थवाद की धारणा व्यापक होने के साथ-साथ राजनीतिक भी होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में रचनाकार के रूप में मुक्तिबोध का राजनीति से अलग रहना संभव न था। उन्होंने 'नया खून' और 'सारथी' नामक साप्ताहिक पत्रों में कभी अनाम और कभी छद्मनामों से जो राजनीतिक टिप्पणियाँ लिखीं, वे राजनीति से उनके गहरे सम्बंध का ठोस सबूत हैं। इन टिप्पणियों में उन्होंने परतंत्र और नवस्वतंत्र देशों के एक प्रतिबद्ध लेखक की तरह तमाम राजनीतिक घटनाक्रम को देखते हुए उस पर अपने विचार व्यक्त किए हैं और साम्राज्यवाद को अपने प्रहार का लक्ष्य बनाया है। हमें उनकी कविताओं में उनके पत्रकार और रचनाकाररूप में घनिष्ठ सम्बंध दिखलाई पड़ता है। कविताओं में भी वे तीसरी दुनिया के एक प्रतिबद्ध कवि के रूप में ही सामने आते हैं। यह जरूर है कि यहाँ उनकी राजनीति अधिक मर्मभेदी है। एक कविता में उन्होंने कहा है, 'मेरी अखबारनवीसी ने भीतर सौ-सौ आँखें पाईं'। उनकी सौ-सौ आँखोंवाली तीक्ष्ण राजनीतिक दृष्टि निःसंदिग्ध रूप से उनकी कविताओं में प्रत्यक्ष है।

मुक्तिबोध राजनीति की अहमियत को भी समझते थे और उससे साहित्य का जो सम्बंध है, उससे भी अवगत थे। उनकी स्पष्ट धारणा थी कि संपूर्ण मनुष्य-सत्ता का निर्माण करने का एकमात्र मार्ग राजनीति है, जिसका सहायक साहित्य है। इस तरह उन्होंने साहित्य को कोई सर्वथा स्वायत्त वस्तु नहीं माना और स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा रखना मूर्खता है।' वे यथार्थवादी रचनाकार थे। उन्होंने देश-भक्ति का अर्थ 'जन-भक्ति' बतलाया और राजनीति और साहित्य दोनों का स्रोत एक ही माना—जन-जीवन का यथार्थ। उनकी दृष्टि में ये दोनों मूलतः एक हैं, इनमें फर्क सिर्फ अभिव्यक्ति की प्रणाली को लेकर है। निश्चय ही इससे यह भ्रम न होना चाहिए कि उन्होंने राजनीति और साहित्य के सम्बंध का किसी तरह से सरलीकरण किया है। उन्होंने साहित्य को जो राजनीति का सहायक माना, इसका भी यह अर्थ नहीं कि साहित्य के प्रति उनका दृष्टिकोण उपयोगितावादी था। वे रचना और रचनाकर की स्वतंत्रता के कायल थे और गहन मानववादी भूमि पर राजनीतिक काव्य-रचना के पक्षधर थे। स्वभावतः उन्होंने कभी प्रचारात्मक कविता नहीं लिखी, या कहें कि 'हथियार' के रूप में कविता का इस्तेमाल

करने की कोशिश नहीं की।

वे कलाकार की प्रकृति को मूलतः राजनीतिक या दार्शनिक नहीं मानते, लेकिन उन लोगों से सहमत नहीं, जो यह कहते हैं कि राजनीतिक प्रेरणा कलात्मक नहीं हो सकती। 'कलात्मक अनुभव' शीर्षक अपने लेख में उन्होंने कहा है कि कलाकार राजनीतिक क्षेत्र में जिन आदर्शों को लेकर जाता है, वे उसके हृदय के अपरिमित विस्तार के आवेश से संबद्ध होने के कारण उसके लिए कलात्मक ही होते हैं। वह उस क्षेत्र में कोई राजनीतिक कौशल प्राप्त करने नहीं, बल्कि मानव-जीवन के एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में भीगने, रस लेने, ज्ञान-दीप्ति प्राप्त करने और उसे उत्तमतर बनाने तथा उचित दिशा में परिवर्तित करने के लिए जाता है। यह भीगने, रस लेने और ज्ञान-दीप्ति प्राप्त करनेवाली बात राजनीति के प्रति कविरूप में उनके दृष्टिकोण को अच्छी तरह से स्पष्ट कर देती है। यह चीज शेष प्रगतिशील कवियों से उन्हें अलग भी करती है। वस्तुत: राजनीति के प्रति उन-जैसा सृजनात्मक दृष्टिकोण और उससे उन-जैसा सरस और आत्मीय सम्बंध हिन्दी के किसी प्रगतिशील कवि का नहीं रहा।

नई कविता के दौर में प्रगतिशील कविता को निशाना बनाकर चलनेवाले लेखकों और कवियों ने मार्क्सवादी राजनीति का कविता में भरसक निषेध करने की कोशिश की थी। सिद्धांत-रूप में उनका यह कहना सही था कि कवि राजनीति को भी अनुभूति के घेरे में ले आए, तो यह उसकी जीवन-दृष्टि के विस्तार का ही लक्षण होगा, लेकिन उसी को सबकुछ मान बैठे, तो यह एक नया संकुचन होगा, लेकिन व्यवहार में उन्होंने मार्क्सवादी राजनीति से प्रेरित अच्छी से अच्छी कविता को खारिज किया। वे कवि की राजनीतिक चेतना और राजनीतिक मतवाद में फर्क करते थे और कविता में पहले को ग्राह्य तथा दूसरे को अग्राह्य बतलाते थे। उनकी यह बात भी किसी हद तक सही थी, लेकिन वे यहीं नहीं रुके और कविता में पक्षधरता-मात्र का विरोध किया। उन्होंने समर्थन भी दिया तो एक ऐसी अमूर्त राजनीति को, जो अंततः पूँजीवाद के पक्ष में चली जाती थी। मुक्तिबोध का कहना था कि नई कविता के कवियों ने कविता में मार्क्सवादी राजनीति का विरोध कर बड़े कौशल से व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नाम पर एक दूसरी राजनीति चलाने की कोशिश की, जो अपने मूल रूप में पूँजीवादी थी। उन्होंने पुरानी प्रगतिशील कविता के एकक्षेत्रीय यानी मात्र राजनीतिक होने का विरोध किया, लेकिन नई कविता से जब एक राजनीति के तहत राजनीति को बिलकुल काटकर फेंक देने की कोशिश की जाने लगी, तो उन्होंने उसका भी विरोध किया। वे हिन्दी में 'मानव-मुक्ति की राजनीति की महान् मनुष्यता का विश्वदर्शी काव्य' देखना चाहते थे। इस तरह के काव्य की रचना कविता से राजनीति को बहिष्कृत करके नहीं, बल्कि उसे गंभीर

और उदात्त स्तर पर कवि द्वारा ग्रहण करने से ही संभव थी। ऐसी स्थिति में उनका राजनीति को महत्त्व देना स्वाभाविक था। यह अकारण नही था कि कोई नया लेखक उनसे मिलने जाता था, तो वे शुरू में ही उससे पूछते थे, 'पार्टनर, तुम्हारी पालिटिक्स क्या है?', फिर वे उसी बिंदु से अपनी बातचीत को आगे बढाते थे।

मुक्तिबोध ने श्रीकांत वर्मा को एक पत्र में लिखा था, 'राजनैतिक स्वर, जो मेरे काव्य में प्रच्छन्न रूप से विराजमान रहता है, आपने पहचाना। वह स्वर, वस्तुतः एक महत्त्वपूर्ण किंतु गोपन विशेषता है, जो मेरे काव्य को रूप देती है।' अन्यत्र भी उन्होंने संकेत से अपने काव्य को 'राजनैतिक भावावेश से संपन्न' कहा है। राजनीति निश्चय ही उनके काव्य का एक अत्यंत प्रमुख रचनात्मक तत्त्व है। वह उनका चिंतन भी है, भाव या 'भावावेश' भी और उसे रूप प्रदान करनेवाला तत्त्व भी। वह सर्वत्र उसमें कलात्मक रूप में प्रकट हुआ है, लेकिन ऐसा नहीं है कि वह सर्वत्र 'प्रच्छन्न' या 'गोपन' है। डा० नामवर सिंह ने एक पत्र में उन्हें सलाह दी थी कि वे अपने लेखन में 'मार्क्सवादी जार्गन' का प्रयोग न करें। वे उनसे सहमत भी हुए और उन्हें आश्वस्त किया कि भविष्य में वे यथासंभव उसे छोड़कर चलेंगे, लेकिन जहाँ वे मार्क्सवाद के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करने के लिए विवश थे, वहाँ उन्होंने बेहिचक उनका प्रयोग किया, अपने आलोचनात्मक लेखन में ही नहीं, कविताओं में भी। नई कविता के पक्षधरों को सर्वहारा, पूँजीवाद, शोषण, वर्गसंघर्ष आदि शब्द सुनना तक गवारा न था। मुक्तिबोध ने 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में ऐसे लोगों को लक्ष्य कर लिखा कि ये शब्द न केवल उनकी साहित्यिक अभिरुचि पर आघात करते हैं, बल्कि उनके वर्ग-हितों को नुकसान पहुँचाने की भी क्षमता रखते हैं। इनकी जगह वे उन गोलमोल शब्दों का प्रयोग पसंद करते हैं, जो चेतना को धुँधलानेवाले होते हैं ! इससे राजनीतिक कवि के रूप में मुक्तिबोध के मिजाज का अंदाजा लगाया जा सकता है।

उनकी आरंभिक राजनीतिक कविताएँ, उदाहरणार्थ 'लाल सलाम', 'एक नीली आग', 'दमकती दामिनी', 'क्रांति' आदि, प्रायः युद्ध-काल और युद्धोत्तरकाल में रची गई हैं। इनकी पृष्ठभूमि अंतर्राष्ट्रीय भी है और राष्ट्रीय भी—फासिस्ट सेना और लालसेना के बीच का युद्ध, युद्ध में सोवियत संघ की विजय के साथ पूर्वी यूरोप के देशों में कथित समाजवादी शासन की स्थापना, एशिया और अफ्रीका के औपनिवेशिक देशों में उठनेवाली स्वाधीनता की लहर, चीन का मुक्ति-संग्राम और वहाँ क्रांति की विजय तथा भारत का सामंत और उपनिवेश-विरोधी जन-उभार, जो तेभागा और तेलंगाना के किसान-आंदोलन, आजाद हिंद फौज के बंदियों की रिहाई के लिए किए गए राष्ट्रीय आंदोलन, डाक-तार-विभाग के कर्मचारियों और

दक्षिण भारतीय रेलवे के मजदूरों की हड़ताल तथा बंबई के नाविक-विद्रोह के रूप में दिखलाई पड़ा था। बिना इस पृष्ठभूमि के ये कविताएँ नहीं रची जा सकती थीं। जो विद्वान् मुक्तिबोध को इस पृष्ठभूमि से अलग करके देखते हैं, वे उनके सम्बंध में गलत निष्कर्ष निकालते हैं। इन कविताओं की सीमा यह है कि इनमें राजनीति और क्रांति की चेतना प्रायः भावना के स्तर पर है। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति भी प्रायः भावनात्मक ढंग से ही हुई है। स्वभावतः अभिव्यक्ति के अधिकांश उपादान वही हैं, जो छायावादी कविता में काम में लाए जाते थे—बादल, बिजली, तूफान आदि। इन उपादानों का उपयोग भी कवि ने छायावादी ढंग से ही किया है, यानी अप्रस्तुतों के रूप में। यह जरूर है कि उनके संयोजन में कुछ ऐसी विशेषता है, जिससे पुराने उपादानों से भी अनेक बार नई आभा से युक्त चित्रों की सृष्टि हुई है, जैसे क्रांति के उपमान 'बिजली' के लिए यह कथन—'लावण्य की अपराजिता असि-धार'। शब्द पुराने हैं, लेकिन नई भावना से दीपित, लौ-से बलते हुए। जहाँ मुक्तिबोध श्रमजीवी जनता के प्रति गहरा प्रेम प्रकट करते हैं, वहाँ उनके शब्द अनाज के दूधभरे कच्चे दानों-जैसे प्रतीत होते हैं। वे चूँकि वैचारिक दृष्टि से बहुत सजग थे, इसलिए उनका क्रांतिकारी भावावेग उनके वैचारिक अनुशासन को कभी भंग नहीं करता। उसमें अराजकता या विस्फोटकता नहीं है, इसलिए उनकी ये कविताएँ सिर्फ राजनीतिक 'तराने' बनकर नहीं रह गई हैं। लेकिन यह सही है कि यथार्थवादिता की जगह एक सशक्त रूमानियत है। 'आ-आकर कोमल समीर', 'ओ विराट् स्वप्नो' और 'पीत ढलती हुई साँझ'-जैसी कविताओं में धीरे-धीरे यथार्थवादी भूमि उभरने लगती है। इनमें मुक्तिबोध कथाकार की तरह जीवन और परिवेश के यथार्थ का चित्रण करने का प्रयास करते हैं। अब उनकी कविता क्रांतिकारी भावावेग से हटकर सामाजिक अंतर्विरोधों के चित्रण का माध्यम बनने की ओर अग्रसर होती है। उसमें सामान्यीकरण का स्थान विशिष्टीकरण लेता जाता है। इसी अनुपात में उनकी कविताओं की लंबाई बढ़ती जाती है और उनकी संरचना जटिल होती जाती है। यह आकस्मिक नहीं है कि उक्त कविताएँ इस दौर की उनकी सबसे लंबी राजनीतिक कविताएँ हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद मुक्तिबोध ने अपनी संपूर्ण अग्नि फासिज्म, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध केंद्रित की और छोटी-बड़ी अनेक प्रभावशाली राजनीतिक कविताएँ लिखीं। 'जमाने का चेहरा' 'अँधेरे में' के बाद उनकी एक उल्लेखनीय कविता है। यद्यपि यह एक वर्णनात्मक कविता है और इसमें 'अँधेरे में'—जैसी जटिलता नहीं, तथापि यह अपने वर्णन की ओजस्विता और उदात्तता से पाठकों पर महाकाव्यात्मक प्रभाव डालती है। 'मुक्तिबोध रचनावली' में इसके अपूर्ण होने की संभावना व्यक्त की गई है, लेकिन यह अपूर्ण नहीं, एक पूर्ण कविता है, जिसमें मुक्तिबोध ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की अपने काल की दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण

घटनाओं का बहुत ही विस्तार से वर्णन किया है--फासिज्म की पराजय और नवउपनिवेशवाद का उदय। 'बारह बजे रात के' उनकी एक अपेक्षाकृत छोटी कविता है, जिसमें उन्होंने नाटो और सीटो-जैसी फौजी संधियोंवाले साम्राज्यवादी देशों के बीच इंग्लैंड के एक होटल में चलनेवाली युद्ध-मंत्रणा का बहुत ही बीभत्स और भयानक चित्र खींचा है। अपनी अधिकांश कविताओं में उन्होंने पूँजीवाद पर कठोर प्रहार किया है, निश्चय ही अनेक बार बेमालूम तरीके से। इनमें उन्होंने पूँजीवाद के अमानवीय रूप को उजागर किया है, उससे समाज में फैलनेवाली अलगाव की भावना का चित्रण किया है और उसे खत्म करनेवाली सामाजिक शक्ति की ओर भी संकेत किया है। 'सूखे कठोर नंगे पहाड़' उनकी एक जोरदार कविता है, जो 'कष्टजीवियों के प्रतिनिधि' यानी मजदूर-नेता को संबोधित कर लिखी गई है। मुक्तिबोध ने मजदूर-नेता को 'महाश्रमिक' और 'जन-क्रांति-रूप' कहा है। 'सूखे कठोर नंगे पहाड़' पूँजीवादी व्यवस्था के प्रतीक हैं। कवि ने मजदूर-नेता से आग्रह किया है कि वह उन पहाड़ों को अपने बाहु-बल से उठाकर इतिहास के समुद्र में फेंक दे।

'जिंदगी का रास्ता' मुक्तिबोध की एक आत्मकथात्मक कविता है—लंबी और उनकी अन्य लंबी कविताओं की तरह ही सारपूर्ण तथा मार्मिक। इसका नायक रामू कवि का प्रतिरूप है, जो शाम को अपने काम से घर लौटता है, 'पीत ढलती हुई साँझ' के नायक की तरह। लेकिन उस कविता से इसमें फर्क यह है कि इसका नायक निराश नहीं है, शुरू से ही आशा और विश्वास से भरा हुआ है। बीसवीं सदी के पचासवें चरण में और पूँजीवादी झूठ के विराट् अत्याचारों के बीच उसे आशा और विश्वास कहाँ से मिलता है, यह कविता में अंकित इस प्रकार के चित्रों से स्पष्ट हो जाता है, जो युद्धोत्तर विश्व के दृश्य को हमारे सामने उपस्थित करते हैं :

आधुनिक सहस्रमुख रावण से द्रोह कर
विद्रोही भूमि के संगररत पुत्रों ने
धुएँ के उभरते हुए बादलों के ठीक बीच
भागती हुई कौंधती-सी ज्वाला-सी
प्रलंबित धारा को
आँखों से देखा—
अपने ही हाथों से छूटी हुई
(स्टेनगन की ही) वह आग थी।
शोषण-व्यवस्था को भंग करती हुई
आग की लकीर वह
पृथ्वी पर घूमती।

'साँझ-रँगी ऊँची लहरों में' शीर्षक कविता में एक उलूक है, जो ह्रासोन्मुख पूँजीवादी सभ्यता का परम दयनीय प्राण-पुत्र है। कारण यह कि वह पूँजीवादी व्यवस्था के अमानवीय रूप से परिचित है, लेकिन अपने में सिमटा हुआ और निष्क्रिय है। वह वस्तुतः मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी है, जो एक ओर युद्धोत्तर विश्व के जन-संघर्षों की रक्तिम घाटी में खिले हुए कालांतर उपस्थित करनेवाले सत्य के प्रतीकरूप अंगार-चंद्र को देखता है और दूसरी ओर पूँजीवादी व्यवस्था के खँडहर को, लेकिन कुछ करता नहीं, सिर्फ सोचता है कि कोई उस खँडहर में रहनेवाली जनता को पूँजीवादी सभ्यता के विषम और विकृत रूप से परिचित कराकर उसकी मूर्च्छा तोड़ देता। उसमें तीखा आत्मचिंतन चलता है, जनता का मुक्ति-अभियान उसके मस्तिष्क में तड़ित्-नृत्य करने लगता है, जिसके परिणामस्वरूप अंततः वह पूँजीवादी व्यवस्था से निकल भागता है। वह व्यवस्था इस निकल भागने को 'भीषण देश-द्रोह' की संज्ञा देती है, लेकिन मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के साथ छोड़ने की घटना से वह यह भी सोचने लगती है कि उसका अंत निकट है।

'उलट-पुलट शब्द' एक छोटी, लेकिन बहुत ही सार्थक कविता है, जिसमें मुक्तिबोध ने पूँजीवादी कारखाने में माल का उत्पादन करनेवाले मजदूरों के स्वयं माल बन जाने का वर्णन किया है। 'भविष्य-धारा' उनकी एक लंबी और उल्लेखनीय कविता है। इसका विषय भी पूँजीवाद ही है। इसमें एक वैज्ञानिक है, जो कवि भी है। वह पूँजीवादी व्यवस्था के उच्छेद के लिए समीकरण के कुछ सूत्र आविष्कृत करता है, जिन्हे पूँजीपति-वर्ग चुराकर जला देता है। मुक्तिबोध कहते हैं कि वह कब तक ऐसा करता रहेगा? इतिहास की गति रुकती नहीं है, वे सूत्र पुनः आविष्कृत होंगे। इतिहास के नियमों का गहरा ज्ञान रखनेवाले और विश्व-राजनीति की गति को अपनी नाड़ियों में महसूस करनेवाले कवि को पूरा विश्वास है कि पूँजीवाद का नाश होकर रहेगा। वे पूँजीपति-वर्ग के आश्रयान्वेषी मध्यवर्ग को विस्तार से उसकी असलियत का ज्ञान कराते हैं और निम्न-मध्यवर्ग को 'दुर्जय भविष्य-धारा' बतलाते हैं, क्योंकि उसमें क्रांतिकारिता होती है और वह श्रमिक-वर्ग से अपनी एकता स्थापित कर देश के भविष्य का निर्माण करता है। 'अंतःकरण का आयतन' शीर्षक प्रसिद्ध कविता की समस्या भी राजनीतिक ही है। इसमें कवि को वर्तमान पूँजीवादी विश्व में दो प्रकार के दृश्य दिखलाई पड़े हैं–ध्वंस के भी और निर्माण के भी, और निराश होने की जगह वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इन परस्पर विरोधी शक्तियों के संघर्ष की प्रक्रिया में ही विश्व का क्रांतिकारी रूपांतरण होता है।

पूँजीवादी समाज में अमानवीकरण की जो प्रक्रिया चलती रहती है, उसका बहुत ही सशक्त वर्णन मुक्तिबोध की 'ओ अप्रस्तुत श्रोता' शीर्षक एक अन्य छोटी

कविता में देखने को मिलता है। 'विक्षुब्ध बुद्धि के मारक स्वर' भी एक छोटी ही कविता है, जिसमें पूँजीवादी व्यवस्था में 'आदमी के बदल जाने की भयानक प्रक्रिया' का वर्णन किया गया है। इस व्यवस्था में लोग अपने स्वार्थ और अपने आपसे प्रेम करने के अलावा किसी चीज को महत्त्व नहीं देते। वे जैसे जन्मोपरांत ही एक मर्कट द्वारा चुरा लिए जाते हैं और मानव-जगत् से दूर जंगल में विकृत रूप में उसी के द्वारा पाल-पोसकर बड़े किए जाते हैं! 'हर चीज, जब अपनी' शीर्षक कविता में व्यक्ति और समाज पर पड़नेवाले पूँजीवाद के प्रभाव—अलगाव और व्यक्तित्व-विभाजन—का चित्रण और गहराई से किया गया है। पूँजीवादी सत्ता पर जनता के धावा बोलने का एक तरफ अथवा सरलीकृत चित्र मुक्तिबोध की 'लकड़ी का बना रावण' शीर्षक कविता में मिलता है। इसमें 'जनतंत्री वानरों' के समूह को अपने सुरक्षित स्थान की सरल बढ़ते देखकर लकड़ी का बना रावण, जोकि ह्रासोन्मुख पूँजीवादी सत्ता का प्रतीक है, लड़खड़ा उठता है!

मुक्तिबोध ने अपनी राजनीतिक टिप्पणियों की तरह अपनी कविताओं में भी भारत को शेष विश्व से अलग करके नहीं देखा। 'जन-जन का चेहरा एक' शीर्षक कविता में वे कहते हैं :

> एशिया के, यूरोप के, अमरीका के
> भिन्न-भिन्न वासस्थान;
> भौगोलिक, ऐतिहासिक बंधनों के बावजूद,
> सभी ओर हिंदुस्तान, सभी ओर हिंदुस्तान।

एक देश में चलनेवाला मुक्ति-संग्राम दूसरे देश के मुक्ति-संग्राम को प्रभावित करता है; एक देश में क्रांति की विजय दूसरे देश के क्रांतिकारी आंदोलन को बल पहुँचाती है; एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका के देशों की परिस्थितियों में बहुत कुछ समानता रही है, आज भी है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि इन देशों की अपनी विशेषताएँ नहीं, अपनी परिस्थितियाँ और उनकी क्रांति की अपनी अवस्थाएँ नहीं। भारत की भी अपनी विशेष स्थिति है, जिसे मुक्तिबोध ने हमेशा ध्यान में रखा है। भारत जब गुलाम था, उन्होंने 'गुलामी की जंजीरें टूट जाएँगी' शीर्षक कविता में उसे संबोधित कर रहा था : 'तेरे साथ घूमूँगा गलियों में राहों पर/फटे चिथड़ों में भी रहूँगा मैं बादशाह'। उसके आजाद होने के करीब एक दशक बाद शासन से निराश होकर 'चकमक की चिनगारियाँ' शीर्षक कविता में उन्होंने भारतीय क्रांति के स्वरूप और परिणाम को लेकर चिंता प्रकट की। उससे स्पष्ट है कि उनके पास क्रांति का कोई सार्वभौम फार्मूला न था और वे इसके प्रति उत्सुक थे कि वह भारतीय जनता के जीवन और समाज को उच्चतर सांस्कृतिक स्तर

पर पहुँचानेवाली राजनीतिक कार्यवाही होगी। भारतीय जनता उनके लिए 'फटेहाल' भी थी और 'जिंदादिल' भी, यह उन्होंने 'सूरज के वंशधर' शीर्षक कविता में बहुत ही सशक्त ढंग से कहा है। इस कविता में आजादी के बाद के भारत की बहुत सही तसवीर अंकित है। उससे भारतीय जनता की आर्थिक स्थिति का भी पता चलता है, उसके स्वभाव का भी, उसके जीवन-संघर्ष का भी और उसकी क्रांतिकारिता का भी। उसकी क्रांतिकारिता आजादी की लड़ाई के दौरान भी सिद्ध हुई थी, आजादी के बाद भी अनेक जनसंघर्षों और जनतांत्रिक आंदोलनों से सिद्ध हुई है। आजादी के बाद उसकी हालत लगातार बिगड़ती गई है। 'इस नगरी में' शीर्षक कविता में मुक्तिबोध ने शासक-वर्ग के नेताओं का चित्र खींचा है, जिनका सबसे बड़ा सहारा गाँधीवाद था : 'इस नगरी के प्रहरी पहने हैं धूएँ के लंबे चोगे/साजिश के कुहरे में डूबी/ब्रह्मराक्षसों की छायाएँ/गाँधीजी की चप्पल पहने घूम रही हैं।'

मुक्तिबोध की सर्वाधिक उल्लेखनीय राजनीतिक कविता 'अँधेरे में' है, जो फासिज्म की आशंका से ग्रस्त होकर रची गई है। फासिस्ट हुकूमत में न केवल जनता के सारे जनतांत्रिक अधिकार छीन लिए जाते हैं, बल्कि और बड़े पैमाने पर उसका क्रूरतापूर्ण शोषण और दमन आरंभ हो जाता है। 'अँधेरे में' में जो यह हुकूमत कायम हुई है और उसकी तरफ से मार्शल लॉ लगाया गया है, उसकी वजह मुक्तिबोध ने पूँजीवाद-विरोधी क्रांति की शुरुआत बतलाई है: 'किसी जन-क्रांति के दमन-निमित्त यह/मार्शल लॉ है !!' इस मार्शल लॉ में चारों ओर आतंक का वातावरण है। रात में एक जुलूस दिखलाई पड़ता है, जो प्रकारांतर से शासक-वर्ग की खूँखार फौजी ताकत का तो प्रदर्शन करता ही है, वस्तुतः यह दिखलाता है कि उसके साथ अपराधकर्मियों से लेकर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी तक हैं। ये सब उसकी रक्षा में पंक्तिबद्ध हैं। लेकिन इस सबसे अंततः जन-क्रांति दबती नहीं है और वह फूट पडती है: 'यह कथा नहीं है, यह सब सच है, हाँ भई!!/कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई!!'

'अँधेरे में' मुक्तिबोध की सर्वाधिक जटिल कविता भी है, इसलिए इसमें राजनीति सपाट रूप में नहीं आई। इसे जटिल बनानेवाले इसके दो चरित्र हैं, जो इसमें फासिस्ट हुकूमत के संदर्भ में उपस्थित होते हैं। उनमें से पहला चरित्र है वह व्यक्ति, जिसके आत्मसंघर्ष से कविता शुरू होती है और जो कविता को आगे ले चलता है। आलोचकों ने उचित ही उसे 'अँधेरे में' का काव्य-नायक कहा है। वह एक प्रगतिशील मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी है, जो देश में कायम हुई फासिस्ट हुकूमत के कारणों और परिणामों से परिचित है। यह चीज उसे बेचैन बना देती है और उसके भीतर गहन दायित्व-बोध जाग्रत् कर देती है। उसे महसूस होता है कि इस

राजनीतिक दुर्घटना के लिए कहीं न कहीं अपनी निष्क्रियता के कारण वह भी जिम्मेवार है। भयानक आत्मसंघर्ष से गुजरते हुए और सैनिकों द्वारा दी गई यातना बर्दाश्त करते हुए वह जन-क्रांति में शामिल होता है और इस तरह देश के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह करता है। इस प्रक्रिया में उसका व्यक्तित्व रूपांतरित होता जाता है। जनता से तादात्म्य उसे मध्यवर्गीय संस्कारों और सीमाओं से मुक्त कर देता है, यद्यपि इसमें उसे कल्पित किस्म की कोई पूर्णता नहीं प्राप्त होती। दूसरा चरित्र एक 'रक्तालोकस्नात पुरुष' है, जो रहस्यमय ढंग से कविता में प्रकट होकर काव्य-नायक को प्रेरित करता है कि वह अपने मध्यवर्गीय घेरे निकलकर सारे खतरे उठाते हुए जन-साधारण और उसकी क्रांतिकारी कार्यवाहियों से अपने को जोड़े। यह रक्तालोकस्नात पुरुष और कोई नहीं, सर्वहारा की संगठित शक्ति का प्रतीक है, उस सर्वहारा की, जिसने पूँजीवाद-विरोधी क्रांति शुरू की थी और जिसे फासिस्ट हुकूमत में सबसे अधिक शोषण और दमन का शिकार होना पड़ा है। सर्वहारा होने के कारण ही उक्त पुरुष एक तरफ फटेहाल है, उसके सीने पर बड़ा जख्म है, वह जेल में बंद है और दूसरी तरफ उसके होंठों पर मुस्कुराहट है, वह प्रचंड शक्तिमान् है ! इस तरह 'अँधेरे में' फासिज्म-विरोधी और सर्वहारा-वर्ग से एकता-स्थापन के द्वारा मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के व्यक्तित्व-परिवर्तन की कविता है, जो अपने उद्देश्य में पूर्णतः राजनीतिक है। यह फासिज्म के आतंक को भी बहुत ही सशक्त रूप में उपस्थित करती है और जनता की क्रांतिकारी कार्यवाही से उसे खत्म भी कर देती है।

मुक्तिबोध की राजनीतिक कविताओं की विशेषता यह है कि उनकी राजनीति इतिहास और अर्थ-व्यवस्था के ज्ञान से असंपृक्त नहीं है। इस ज्ञान ने ही उनकी राजनीति को गहनता प्रदान की है और इसी की बदौलत उनमें वे साधारण पत्रकार न रहकर 'वास्तविकता के मूलगामी निष्कर्षों' से परिचित 'सौ-सौ भीतरी आँखोंवाले अखबारनवीस' नजर आते हैं। उनकी कविता राजनीतिक है, क्योंकि 'गहन गंभीर छाया आगमिष्यत् की/लिए, वह जन-चरित्री है।' आज की तेजी से बदलती दुनिया में, संभव है, उनकी कविताओं में वर्णित कुछ घटनाएँ और उनमें अभिव्यक्त कुछ अवधारणाएँ अप्रासंगिक हो गई हों, लेकिन उनकी गहन और ज्वलंत मानवीय अंतर्वस्तु हमेशा प्रासंगिक बनी रहेगी। राजनीतिक कवि के रूप में उन्हें केवल भारतीय जनता की नहीं, बल्कि विश्व की सभी शोषित-पीड़ित जनता की चिंता थी। वे वस्तुतः एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका के पिछड़े हुए, नवस्वतंत्र और अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़ते हुए देशों के कवि थे। स्वभावतः उनकी राजनीतिक कविताओं में एक पूरा युग प्रतिबिंबित है, जिसमें मानवता संघर्ष करते हुए स्वतंत्रता और समानता की दिशा में अग्रसर है। भारत उनके लिए जैसे विश्व का अविभाज्य अंग है, वैसे ही विश्व भी उनके लिए भारत के बिना पूरा नहीं होता।

गहन मानवीय संवेदना और इस व्यापक दृष्टि ने ही उनकी राजनीतिक कविताओं को क्लासिकी गरिमा और उदात्तता प्रदान कर दी है।

राजनीति के बाद मुक्तिबोध की कविता का दूसरा मुख्य विषय मध्यवर्ग है, जिसके वे स्वयं सदस्य थे। अन्य प्रगतिशील कवियों ने जहाँ मार्क्सवाद की प्रचलित मान्यता के अनुरूप मजदूरों और किसानों को अधिक महत्त्व दिया है, वहाँ उन्होंने मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों और दफ्तर के कर्मचारियों को। कारण यह कि पूँजीवाद के विकास के कारण भारत में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों और दफ्तर के कर्मचारियों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है, जिससे समाज में और सामाजिक संघर्ष में उनका महत्त्व भी बढ गया है। मुक्तिबोध ने इस बात को समझा और मध्यवर्ग को उसके दायित्व का बोध कराने का भरसक प्रयास किया। निश्चय ही यह मध्यवर्ग निम्न मध्यवर्ग है, जिसकी मानसिकता निम्न-पूँजीवादी होती है। इसी कारण उससे आनेवाले लोग पूँजीपति-वर्ग की तरफ भी जाते हैं और मजदूर-वर्ग की तरफ भी और राजनीतिक दृष्टि से उनमें एक अस्थिरता होती है।

यह आकस्मिक नहीं है कि कविता के साथ मुक्तिबोध ने जो थोड़ी-सी कहानियाँ लिखी हैं, उनका विषय भी मध्यवर्ग ही है; मध्य-वर्ग का वह तबका, जो बुद्धिजीवी कहलाता है और दफ्तरों में काम करता है। यह एक तरफ सामाजिक शोषण का शिकार होता है, पस्त और टूटा हुआ, और दूसरी तरफ उसमें क्रांति की चिनगारी भी दबी हुई होती है।

'एक दाखिल-दफ्तर साँझ' का रामेश्वर एक छोटा अफसर है। उसका असिस्टेंट वर्मा उसे याद दिलाता है कि वह तो 'प्रगतिवादी' है, जिस पर वह उससे कहता है कि सरकारी नौकर की कोई विचारधारा नहीं होती, होती भी है तो उसके अनुसार कार्य करना मना है। जैसे वेश्या को सुहागन कहने से उसका अपमान ही होता है, वैसे ही 'प्रगतिवादी' कहकर वह उसका अपमान कर रहा है! 'जिंदगी की कतरन' एक तालाब में डूबकर आत्महत्या कर लेनेवाले तिवारी और निर्मला-जैसे निम्नमध्यवर्गीय पात्रों की कहानी है, जो सामाजिक-पारिवारिक उत्पीड़न के शिकार थे। इसी कहानी में कथाकार ने कहा है कि मध्यवर्गीय समाज की साँवली गहराइयों की रुँधी हवा की गंध से मै इस तरह वाकिफ़ हूँ, जिस तरह मल्लाह समुन्द्र की नमकीन हवा से। 'अँधेरे में' शीर्षक से मुक्तिबोध ने एक कहानी भी लिखी थी। इसका प्रमुख पात्र एक युवक है, जिसकी कैफियम यह है कि वह दुनिया के मध्यवर्गीय जनों के अनेक विषों को चुपचाप पी गया था और सिर्फ क्रांति की राह देख रहा था। 'उपसंहार' का नायक रामलाल किसी अखबार में काम करता है। सघर्ष, गरीबी और कष्ट–इन तीनों ने उसके परिवार के सदस्यों को अभिन्न बना दिया था!

'समझौता' लोककथा का आधार लेकर रचित मुक्तिबोध की एक सशक्त कहानी है, जिसमें बी. ए. पास एक बेकार युवक है। जब उसे एक दफ्तर में किरानीगीरी मिल जाती है, तो उसे भयानक यातनाएँ देकर मनुष्य से पशु बनाया जाता है। उसके ऊपर का अफसर भी पशु बनाया जा चुका है। किरानी रीछ, तो अफसर शेर। वह अफसर उससे कहता है कि अगर पशु की जिंदगी ही बितानी है, तो ठाठ से बिताएँ, आपस में समझौता करके। 'समझौता' ही तरह ही 'पक्षी और दीमक' भी एक सशक्त कहानी है। इसमें भी कहानी के भीतर एक दूसरी कहानी है। इसमें एक शिक्षक है, जिसे अपनी दशा पर उस पक्षी की याद आती है, जो दीमकों के मुलायम आहार के लिए गाड़ीवान को अपने खूबसूरत पंख अपनी चोंच से तोड़कर देता जाता है और एक दिन पंखहीन होकर स्वयं एक काली बिल्ली का आहार बन जाता है।

'क्लॉड ईथरली' शीर्षक अपनी प्रसिद्ध कहानी में मुक्तिबोध ने कहा है कि मध्यवर्ग का प्रत्येक सचेत, जागरूक और संवेदनशील व्यक्ति क्लॉड ईथरली है, यानी इस कारण पाप-बोध या अपराध-बोध से ग्रस्त है कि वह विरोध नहीं कर सकता। क्लॉड ईथरली वह अमरीकी विमान-चालक था, जो हिरोशिमा पर अणु-बम गिराने के कारण पाप-बोध से ग्रस्त था, लेकिन जिसने अमरीकी राजनीति का विरोध नहीं किया था। 'जलना' भी एक शिक्षक की ही कहानी है, जो अपनी बूढ़ी माँ की चाय के दूध के लिए पंसारी की दूकान में ले जाकर रद्दी बेचता है। इस कहानी में मुक्तिबोध ने निम्नमध्यवर्गीय दंपति के मन की गहराई में छिपे प्रेम का बहुत ही सटीक वर्णन किया है। अभावग्रस्त परिवार का पारस्परिक प्रेम और सहयोग का दृश्य चुन्नीलाल की आँखों के सामने आता है, तो उसका मन 'बेहद' के मैदान में चला जाता है। 'काठ का सपना' के निम्नमध्यवर्गीय दंपति परिस्थितियों की मार से काठ हो गए हैं। जल-विप्लव में वे प्राणहीन काठ आपस में गुँथे हुए बहे जा रहे हैं। उन पर एक बालिका भी बैठी हुई है—सरोज, जिसने अपने दो हाथ दोनों काठों पर टेक रखे हैं!

'सतह से उठता आदमी' में दो पात्र हैं—कृष्णस्वरूप और रामनारायण। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, यानी निम्न-पूँजीवादी मनोवृत्ति के दो पक्षों को सामने लानेवाले। रामनारायण निषेधवादी है, उसका व्यवसाय तमाम चीजों की जी-भरकर आलोचना करना है, जबकि कृष्णस्वरूप लाभ-लोभ का शिकार है, जो उसकी खुशामद में रहता है और उससे इतना दबता है कि उसकी गालियाँ भी बर्दाश्त करता है। 'जंक्शन' कहानी में भी एक पात्र की निम्नमध्यवर्गीय मनोवृत्ति का ही चित्रण हुआ है। इसमें वह पात्र उधार का ओवरकोट पहनकर शान से रेलवे प्लेटफार्म पर जाड़े की एक ठंढी रात में घूमता है और एक साफ-सुथरे लड़के को अपने

बिस्तर में लेटने की सुविधा देकर अपने बड़प्पन की आकांक्षा को पूरा करता है। उसके बड़प्पन की पोल तब खुल जाती है, जब एक गंदे लड़के को भी वह सुविधा देने की बात सामने आने पर वह इस डर से पीछे हट जाता है कि दूसरों की दी हुई ही क्यों न सही, कीमती अलवान, नरम कंबल और दूधिया चादर खराब हो जाएगी।

'विपात्र' मुक्तिबोध का एक लघुउपन्यास है, जिसमें मध्यवर्गीय जीवन के 'तिलिस्म' का वर्णन है। यह तिलिस्म एक कालेज है, जिसके कैदी उस कालेज के अध्यापक हैं। उन्हें जिस ऐयार ने कैद किया है, वह उस कालेज का प्राचार्य है, जो पूँजीवादी और सामंती संस्कारों का विचित्र मिश्रण है। कालेज के अध्यापक उसके आतंक से बुरी तरह ग्रस्त हैं। राव साहब, जगत, भनावत, मिश्रा और 'विपात्र' का नायक सभी तिलिस्मी परिस्थितियों में निम्नमध्यवर्गीय चरित्र के एक-एक पहलू का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। राव साहब एक अवसरवादी चरित्र हैं, जिनकी नजर हमेशा अपनी तरक्की पर रहती थी। जगत एक स्वप्नदर्शी है, जिसे सच्चाई सिर्फ सपना दे जाती थी। भनावत अब कोई खतरा उठाने को तैयार नहीं, इसलिए 'मौका' देखकर बातें करने में विश्वास करता है। मिश्रा जगत से कहता है कि हमारे बीच कोई झगड़ा नहीं, क्योंकि हम दोनो एबी लॉर्ड्स हैं! एबी लॉर्ड–जिसने संत बने रहने के लिए अपनी जननेंद्रिय को चाकू से काट दिया था ! कथानायक भी एक खुशामदी चरित्र है, लेकिन वह कहता है कि उसका पूँछ हिलाने का अपना तरीका है!

लेकिन ऐसा नहीं है कि मध्यवर्ग का यह तबका हर तरह से पस्त, टूटा हुआ और निराश है और इसमें प्रतिरोध की कोई क्षमता नहीं। मुक्तिबोध इस तबके की प्रतिरोध-क्षमता से भी परिचित थे, इसलिए उन्होंने अपनी कहानियों और अपने लघुउपन्यास में उसका भी संकेत किया है। 'भूत का उपचार' कहानी का पात्र कथाकार से कहता है : 'मेरे भीतर का जीवन आप क्या जानो। जो भीतर का है वह धुआँ या कुहरा है, यह गलत है। आप मुझे ऐसा पेंट करना चाहते हो जैसे मैं दुख के, असंगति के, कष्ट के, एक गटर का एक कीड़ा यानी निम्नमध्यवर्गीय हूँ। जी नहीं, स्रष्टा महोदय, मैं इतना आधुनिक नहीं हूँ।"" आपलोग मन की कुछ विशेष अवस्थाओं को ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानकर चलते हैं–विशेषकर उन अवस्थाओं को जहाँ वह अवसन्न है, और बाहरी पीड़ाओं से दुखी है। मैं इस अवसन्नता और पीड़ा का समर्थक नहीं, भयानक विरोधी हूँ।' मुक्तिबोध ने अपने पात्र की इस बात को याद रखा और यथासभव निम्नमध्यवर्गीय चरित्रा का चित्रण वस्तुपरक रूप में किया। यही कारण है कि उनके पात्र निरे नकारात्मक और अबोध नहीं।

'एक दाखिल-दफ्तर साँझ' के रामेश्वर में एक अंतःसंघर्ष भी है। उसके भीतर से एक आवाज उठती है, 'तुमने अपनी जिंदगी के साथ खिलवाड़ किया है, अप्राकृतिक व्यभिचार किया है, सचाई की राह छोड़ दी है।' 'अँधेरे में' का युवक बिगड़ी हुई हालत के लिए 'मध्यवर्ग के आत्म-संतोष' को दोष देता है। 'उपसंहार' का रामलाल एक शिक्षक की आत्महत्या के विरोध में शुरू होनेवाले आंदोलन की खबर अखबार में पढ़ता है, तो 'उसके दिल की सारी नाउम्मीदी एक विश्वव्यापी अंगार में रूपांतरित होकर उसके दिल को गरमी और आत्मा को किरण प्रदान करने लगी।' 'समझौता' के अफसर की सूरत पर 'जिंदगी से समझौते के विरुद्ध एक क्षोभ की काली भावना छाई हुई थी।' वह अपने असिस्टेंट से यह भी कहता है कि 'यह तो सोचो कि वह कौन मैनेजर है जो हमें-तुम्हें, सबको, रीछ-शेर-भालू-चीता-हाथी बनाए हुए है।'

'पक्षी और दीमक' के शिक्षक का कथन है : 'नहीं, मुझमें अभी बहुत कुछ शेष है, बहुत कुछ। मैं उस पक्षी-जैसा नहीं मरूँगा। मैं अभी भी उबर सकता हूँ। रोग अभी असाध्य नहीं हुआ है। ठाठ से रहने के चक्कर से बँधे हुए बुराई के चक्कर तोड़े जा सकते हैं। प्राण-शक्ति शेष है, शेष।' इसी तरह 'जलना' कहानी का चुन्नीलाल सोचता है कि वह अपने सारे विचार, अपनी सारी कल्पनाएँ और धारणाएँ अपने बच्चों को बता देगा, उन्हें बड़े आदमियों की बैठक से दूर रखेगा और इस तरह घुट्टी देगा कि वे उनके तौर-तरीकों से घृणा करें, अपने-जैसे गरीबों में ही रहें, और उन्हें लिखाएँ-पढ़ाएँ, उन्हें नए-नए विचार दें, उनकी भविष्य-कल्पना तीव्र कर दें, उनकी जगत्-चेतना को विस्तृत और यथार्थवादी बना दें, और उनमें मरें और जिएँ। वह निश्चय करता है कि अपने बच्चों को क्रांतिकारी बनाएगा। 'काठ का सपना' का पुरुष भी यह प्रतिज्ञा करता है कि चूँकि कर्तव्य की पूर्ति केवल संकल्प द्वारा नहीं हो सकती, इसलिए कल जरूर कुछ न कुछ करेगा, विजयी होकर लौटेगा। 'जंक्शन' का मुख्य पात्र भी अपने चिंतन मे अपने बच्चों से कहता है कि तुम्हारी जन्मभूमि भारत की धरती ही नहीं, गरीबी है। तुम कटे-पिटे दागदार चेहरेवालों की संतान हो। उनसे द्रोह मत करना। अपने इन लोगों को मत त्यागना।

'विपात्र' के भनावत, मिश्रा और उसके नायक के भीतर विद्रोह की आग है, जो उनकी परिस्थितियों की राख की नीचे दबी हुई है। 'विपात्र' का एक दूसरा प्रारूप भी है, जिसमें मुक्तिबोध ने जगत को एक सकारात्मक चरित्र के रूप में चित्रित किया है। पहले प्रारूप का जगत एक कर्मशून्य स्वप्नदर्शी चरित्र है, लेकिन दूसरे प्रारूप में वह एक सक्रिय चरित्र के रूप में सामने आता है और कथानायक से कहता है, 'कर्म मनुष्य को उसकी परिस्थिति से तथा अन्य मनुष्यों से सिर्फ़ जोड़ता ही नहीं है, वह उन्हें मोड़ता भी है।'

1947 में 'मध्य-वित्त' शीर्षक से मुक्तिबोध ने एक कविता लिखी, जिसमें उन्होंने मध्यवर्ग को बहुत कोसा, लेकिन साथ ही संकेत से यह भी बतलाया कि उसकी निराशा, दोहरेपन और अवसरवादिता का कारण पूँजीवाद है, जिसने उसे अपने चक्कों से रौंद डाला है। उन्होंने उसकी प्राण-शक्ति में अपनी आस्था दिखलाई और उसका आह्वान किया कि वह उसकी सहायता से अपने को निराशा से मुक्त करे। कुछ दिनों के बाद उन्होंने 'हे प्रखर सत्य! : दो' शीर्षक एक दूसरी कविता लिखी, जिसमें यह बतलाते हुए कि भारतीय जीवन का यथार्थ एक भयावने दुःस्वप्न की तरह है, उन्होंने मध्यवर्ग की 'नरक-कथा' कही। उन्होंने मध्यवर्ग की जिंदगी को 'उदरंभरी' कहा, तथापि उसमें ऐसे लोगों का अस्तित्व स्वीकार किया, जिनका कोई स्वार्थ नहीं होता। लेकिन ऐसे लोग समाज में प्रभावहीन होते हैं, क्योंकि उनमें विरोध की क्षमता नहीं होती। 'जिंदगी का रास्ता' में उन्होंने मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों को ठिकाने से याद किया है, जो 'भयंकर प्रलय का सामाजिक रूप' देखकर पूँजीपतियों के आँगन में खड़े होकर उनसे अपनी प्राण-रक्षा के लिए प्रार्थना करते हैं। 'इस बैलगाड़ी को' कविता की अंतर्वस्तु भी शहरी बुद्धिजीवियों का चरित्रोद्घाटन है, जो किसानों की तुलना में कम क्रांतिकारी होते हैं।

'भविष्य-धारा' में भी मुक्तिबोध ने मध्यवर्ग की विस्तार से चर्चा की है। आज पूँजीवाद ह्रास को प्राप्त है, लेकिन मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी उसीका आश्रय ढूँढ़ते हैं! उन्होंने उनसे जानना चाहा है कि जिस मध्यवर्ग ने पूँजीवाद के पहले दौर में सामंतवाद और उपनिवेशवाद से संघर्ष कर इतिहास में प्रगतिशील भूमिका निभाई थी, वह आज अपने अनुभवजनित सत्यों को अपने से अलग क्यों रखता है और जन-विमुख क्यों हो गया है? उन्हें मध्यवर्ग के निचले स्तर के लोग याद आते हैं, जो मिट्टी के साधारण कण हैं, फिर भी जिनमें तड़ित्-जैसी गतिमय और उर्मिल बुद्धि है। वे इजारेदार-विरोधी क्रांति के संवाहक हैं, इसलिए दुर्जय भविष्य-धारा हैं! 'अँधेरे में' कविता का काव्यनायक भी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी ही है। वह भी अपने क्रांतिकारी विचारों को गुहावास देता रहा था, क्योंकि यदि जनहित में उनका उपयोग करता, तो बच्चे भीख माँगते। इसके अलावा इसमें जिस जुलूस का वर्णन है, उसमें भेष बदलकर चलनेवाले पत्रकार, कवि-लेखक और विचारक भी मध्यवर्गीय ही हैं। ये वे लोग हैं, जो स्वार्थवश पूँजीपति-वर्ग की रक्षा में पंक्तिबद्ध हो गए हैं। इस कविता में एक पागल का जिक्र है, जो रात में एक गान गाता है। उसमें वह आत्मभर्त्सना करता है। उसकी आत्मभर्त्सना वस्तुतः मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की आत्मभर्त्सना है, जो अपने पेट के चलते अपनी आत्मा को बेच देते हैं। लेकिन दूसरी ओर यह भी सही है कि क्रांति करनेवाले लोग मध्यवर्ग के ही हैं, अपनी समस्याओं से ग्रस्त, फिर भी अपने अंतर में कोई प्रज्वलित अग्नि लिए हुए। इस कविता में जिन युवकों का 'व्यक्तित्वांतर' होता है, वे भी मध्यवर्ग

के ही हैं, सर्वहारा-वर्ग के नहीं। उन्होंने श्रमजीवी-वर्ग से केवल एकता कायम की है।

मध्यवर्ग को विषय बनाकर मुक्तिबोध ने जो कहानियाँ और कविताएँ लिखी हैं, उनमें एक बात लक्ष्य करने योग्य है। वह यह कि उनमें अनेक बार मध्यवर्ग के चरित्र कभी प्रच्छन्न और कभी प्रकट रूप में संघर्ष की स्थिति में हैं। वह संघर्ष कभी उनके भीतर चलता है और कभी बाहर। इसे लेकर हिंदी में एक विवाद की स्थिति है। विवाद का मुद्दा यह है कि मुक्तिबोध में जो 'संघर्ष' है, वह उनका निजी संघर्ष है, या वह मध्यवर्ग का संघर्ष है? तात्पर्य यह कि वे अपने चरित्रां से अभिन्न हैं, या उनका चित्रण उन्होंने वस्तुपरक रूप में किया है? इसी विवाद का परिणाम है कि वे 'आत्मसंघर्ष' के कवि के रूप में प्रचारित हो गए हैं, जिसका सरलीकृत अर्थ यह लगाया गया है कि रचना में उनकी मुख्य समस्या अपने मध्यवर्गीय संस्कारों से उबरकर सर्वहारा-वर्ग से एकता अथवा तादात्म्य स्थापित करने की थी। यह बात यहाँ तक खींच दी गई है कि कहा गया है कि जब हिंदी के अन्य प्रगतिशील कवि पूरी तरह से सर्वहारा-वर्ग से मिलकर अपनी काव्य-रचना द्वारा उसके हितों की रक्षा में लगे रहे हैं, मुक्तिबोध अंत-अंत तक उससे मिलने के लिए अपने भीतर संघर्ष ही करते रहे! इस कारण वे अन्य प्रगतिशील कवियों से, जो पूर्णतः संघर्षमुक्त हैं, पीछे हैं! वस्तु-स्थिति क्या है?

मुक्तिबोध के साहित्य में जो आत्मसंघर्ष है, वह सिर्फ उनका नहीं है। वह उनका होते हुए भी पूरे मध्यवर्ग का है और पूरे मध्यवर्ग का होते हुए भी उनका है। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि वह आत्मसंघर्ष रचनाकार का नहीं है, लेकिन उसने उसका चित्रण उसे अपना बनाकर किया है। 'अंतरात्मा और पक्षधरता' शीर्षक निबंध में मुक्तिबोध ने कहा है, 'एक प्रश्न है, और वह यह कि मेरी अंतरात्मा कहाँ तक विकसित है। स्वयं के अन्यीकरण, इतरीकरण के साथ, मैं कहाँ तक जगत् के साथ अनन्यीकरण और उसका स्वकीयीकरण कर सका हूँ?' इसी तरह 'कामायनी' की आलोचना के क्रम में वे कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं है कि जिया और भोगा गया जीवन कवि का अपना नितांत व्यक्तिगत जीवन हो। किंतु उसकी कलाकृति में वास्तविक का साक्षात्कार और आत्मचरित्रात्मक संस्पर्श तो होना ही चाहिए। यह सब मुक्तिबोध के साहित्य में धीरे-धीरे घटित हुआ है, आकस्मिक रूप में नहीं। व्यक्ति-सत्य से वस्तु-सत्य तक की और वस्तु-सत्य के व्यक्ति-सत्य तक की द्वंद्वात्मक यात्रा उसमें बहुत ही जटिल रूप में संपन्न हुई है। इस यात्रा की मंजिल उनकी काव्य-रचना का वह आखिरी दौर है, जिसमें हम देखते हैं कि वे जिस अनुपात में वस्तुपरक होते गए हैं, उसी अनुपात में उनमें आत्मपरकता बढ़ती गई है। स्वभावतः उनकी कविता में अन्य प्रगतिशील कवियों

की तुलना में अधिक प्रभावोत्पादकता और पाठकों से आत्मीयता कायम करने की अधिक क्षमता है। काव्य की सृजन-प्रक्रिया में दिलचस्पी न रहने के कारण हिन्दी के आलोचकों ने इसके कारण की भी खोज नहीं की और उनमें से किन्हीं ने मुक्तिबोध को पूर्णतः आत्मनिष्ठ रचनाकार, तो किन्हीं ने पूर्णतः वस्तुनिष्ठ रचनाकार घोषित कर दिया।

यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि मुक्तिबोध में आत्मसंघर्ष क्यों है? इसका उत्तर उन्होंने स्वयं दिया है। 'एक टीले और डाकू की कहानी' शीर्षक कविता में, जोकि 'चंबल की घाटी में' शीर्षक कविता का प्रथम प्रारूप है, हवा टीले से कहती है : 'तुममें जो द्वंद्व है/ वह द्वंद्व बाहरी स्थिति ही का बिंब!' इतना ही नहीं, वह उससे यह भी कहती है कि अपने मूल द्वंद्व को पहचानो, उसे तीव्र करो और उससे जीवन-स्थिति को बदल दो। इस महान् कार्य में तुम अकेले नहीं। स्पष्ट है कि यह द्वंद्व या संघर्ष कवि के लिए वह साधन है, जिसे सामूहिक रूप से अपनाकर वह समाज में परिवर्तन लाने का इच्छुक है। 'अँधेरे में' का काव्य-नायक भी सोचता है :

> चक्र से चक्र लगा हुआ है —
> जितना ही तीव्र है द्वंद्व क्रियाओं घटनाओं का
> बाहरी दुनिया में,
> उतनी ही तेजी से भीतरी दुनिया में
> चलता है द्वंद्व कि
> फिक्र से फिक्र लगी हुई है।

यह है बाहर और भीतर की, वर्गसंघर्ष और आत्मसंघर्ष की संबद्धता, जिसे न समझने के कारण आलोचकों ने मुक्तिबोध को सिजोफ्रेनिया का रोगी तक सिद्ध करने की कोशिश की है, जिसमें व्यक्ति व्यक्तित्व-विभाजन का शिकार हो जाता है। उन आलोचकों ने यह भी नहीं देखा कि व्यक्तित्व-विभाजन से ग्रस्त रोगी के व्यक्तित्व के दो हिस्सों में संवाद नहीं होता, जबकि मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष एक अत्यंत सार्थक संवाद है।

मुक्तिबोध की जिस कविता में आत्मसंघर्ष पहली बार बहुत तीखे रूप में प्रकट हुआ है, वह है 'एक टीले और डाकू की कहानी'। इसमें उन्होंने कहा है कि आत्मसंघर्ष व्यक्तित्व-रूपांतरण का माध्यम है। टीले के भीतर मृत्कणों और उनके द्वारा दबाकर रखे गए रत्नकणों में भयानक संघर्ष छिड़ा हुआ है। टीला अपने अंतर्व्यक्तित्व के किले से छुटकारा पाना चाहता है। अनेक देश-देशों का ज्वलत् जीवनानुभव लिए जोरों से चलनेवाली हवा उससे कहती है कि तुम यदि अपने अकेलेपन से छुटकारा

चाहते हो, तो इस बात को समझो कि तुम्हारा आत्मसंघर्ष केवल तुम्हारा नहीं, वह वर्ग संघर्ष का प्रतीक है और उसकी पीड़ा असंख्य लोगों ने भोगी है। फिर वह उसे परामर्श देती है कि जो निर्णायक युद्ध निकट आ रहा है, उसमें सक्रिय रूप से भाग लो, फिर तुम्हारे सारे दुर्गुण नष्ट हो जाएँगे! 'चंबल की घाटी में' भी हवा टीले से यही कहती है कि जन-संघर्षों में सक्रिय होकर ही मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद से छुटकारा पाया जा सकता है। 'ब्रह्मराक्षस' कविता का संदेश भी यही है। ब्रह्मराक्षस को अपने उद्देश्य में इसीलिए सफलता नहीं मिली कि वह भी जन-संघर्षों से दूर अपनी कोठरी में ही कैद रहा। यहाँ यह कह देना जरूरी है कि व्यक्तित्वांतर का मतलब मुक्तिबोध के लिए अपने व्यक्तित्व का सामाजिक विकास था, न कि उसका निषेध। 'अँधेरे में' के काव्य-नायक का आत्मसंघर्ष व्यक्तित्व के ऐसे ही विकास के लिए है। मुक्तिबोध ने अपनी कविता में इसके लिए निरंतर प्रयास किया है कि वे मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी को एक 'सृजनात्मक व्यक्ति' में रूपांतरित कर सकें। तुलसीदास के बाद उस तरह का यह दूसरा प्रयास है। तुलसीदास ने मध्ययुग के अनुरूप सामंती मूल्यों के आधार पर एक 'सृजनात्मक व्यक्ति' के निर्माण का प्रयास किया, मुक्तिबोध ने आधुनिक युग के अनुरूप सामजवादी मूल्यों के आधार पर एक 'सृजनात्मक व्यक्ति' के निर्माण का प्रयास। व्यक्तित्व-निर्माण अथवा व्यक्तित्वांतरण की प्रक्रिया एक सतत चलती रहनेवाली मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो कभी पूर्णता को नहीं प्राप्त करती। इसीलिए 'अँधेरे में' का काव्य-नायक रक्तालोकस्नात पुरुष को, जो उसके पूर्ण व्यक्तित्व का आदर्श है, पाने के बाद भी उसे खोजता रह जाता है।

प्रगतिशील आंदोलन के आरंभिक दौर में प्रेम को अच्छी निगाह से नहीं देखा जाता था। ऐसा समझा जाता था कि यह व्यक्ति को सामाजिक वास्तविकता से अलग कर अपने आप में सीमित कर देनेवाली चीज है। स्वभावतः प्रेम क्रांति-पथ की बाधा के रूप में चित्रित हुआ, यथा उर्दू के प्रसिद्ध प्रगतिशील कवि फैज की प्रसिद्ध नज्म 'मुझसे पहली-सी मुहब्बत मेरी महबूब न माँग!' में। मायकोव्स्की से लेकर ब्रेख्त तक का उस दौर में यही रुख था। मायकोव्स्की ने कविता के सौंदर्यात्मक पक्ष की उपेक्षा की और उसे कर्म से जोड़ने पर बल दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि प्रगीतकार निष्क्रिय होता है और वह आत्मा को भ्रष्ट करता है। ब्रेख्त ने कविता की सर्वाधिक सार्थकता 'सूचना' में देखी और प्रगीत-कविता की व्यावहारिक चरितार्थता के तरीके और साधन ढूँढ़ने पर बल दिया। लेकिन ज्यों-ज्यों कवियों की एकान्वित विश्वदृष्टि की खोज बढ़ती गई, जीवन प्रगति करता गया और इनके परिणामस्वरूप प्रगतिशील कविता विकसित होती गई, प्रेम और क्राति के बीच का विरोध समाप्त होता गया। मायकोव्स्की ने अपनी एक बाद की

कविता में प्रेम को अपनी संपूर्ण सृजनात्मकता का स्रोत बतलाया। नेरूदा ने यह कहते हुए कि कवि की पाँचों इंद्रियों की पहुँच सभी क्षितिजों तक जरूर होनी चाहिए, जैसे प्रगतिशील कविता का नया सौंदर्यशास्त्र प्रस्तुत किया। ब्रेख्तसहित दूसरे सभी क्रांतिकारी कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रगतिशील कवि को जीवन को उसकी संपूर्णता में अधिकृत करना चाहिए। ताज्जुब नहीं, राजनीति और समाज के साथ आरंभ से ही मुक्तिबोध की कविता का एक मुख्य विषय प्रेम रहा और उसे लेकर उन्होंने अनेक कोमल संवेदनावाली प्रगीतात्मक कविताएँ लिखीं।

'नई कविता : एक दायित्व' शीर्षक लेख में उन्होंने साधारण जनों को ध्यान में रखकर कहा है कि इस श्रेणी के सारे लक्ष्यों का समवाय एक ही सूत्र में है और वह है मानव-मुक्ति, जिसके अंतर्गत जीवन के सभी पक्ष आ जाते हैं, चाहे वह शृंगार हो,या राजनीति। हर पक्ष में मुक्ति का संघर्ष है। कोई भी पक्ष इससे खाली नहीं है। स्वभावतः मुक्तिबोध की प्रेम-कविताओं का सार-तत्त्व है मुक्ति। 'किसी से' उनकी एक उल्लेखनीय प्रेम-कविता है, जिसमें पत्नी पति से तिरस्कृत और बहिष्कृत होकर प्रेमी के यहाँ पहुँचती है, जिसका प्रेम उसमें 'जीवन-ज्योति' जगाने की क्षमता रखता है। उनकी दृष्टि में इसी प्रेम का महत्त्व है, क्योंकि यह मुक्ति-प्रदाता है और इसका आधार पुरुष-स्त्री के बीच जनतांत्रिक समानता का भाव है। यह विद्रोह का परिणाम है, विलासिता का नहीं, इसलिए इसमें दूसरे कवियों की कविताओं में अभिव्यक्त प्रेम की तुलना में अधिक गहराई है। लेकिन विद्रोहपूर्ण प्रेम भी प्रेम ही होता है, जिसमें प्रेमी-युगल के बीच अनेक प्रकार की भावात्मक स्थितियाँ आती हैं। मुक्तिबोध ने उन स्थितियों का बहुत तन्मयता से वर्णन किया है, नए और ताजे बिंबों में।' 'एक दूसरे से हैं कितने दूर' कविता में प्रेमिका के प्रति प्रेमी की यह उक्ति द्रष्टव्य है :

> राहगीर को जैसे साथी मिल जाता है
> बंजारे को जैसे गाहक
> पंडित को जैसे लघु सिद्धांतकौमुदी मिलती
> वैसे तुम मिल चुकीं मुझे बस इतना काफी
> भूल-चूक की माफी!!

मुक्तिबोध की प्रेम-सम्बंधी अन्य कविताएँ इस बात का प्रमाण हैं कि उनका प्रेम उनके लिए जीवन और समाज की कठोर और विरूप समस्याओं से बच निकलने का मार्ग नहीं था। इसने उन्हें शेष विश्व से अलग कर आत्मकेंद्रित नहीं बनाया, बल्कि उनके 'आत्म' का ऐसा विस्तार कर दिया कि उसमें संपूर्ण मनुष्यता समा गई। अंत में प्रेम और क्रांति उनके लिए एक दूसरे के पर्याय हो गए। 'द्युति की

कली' शीर्षक कविता में प्रेयसी का व्यक्तित्व उनके लिए विश्वमानव से घुल-मिल जाता है और उसका रंग हृदय के सत्य के रंग-जैसा हो जाता है! 'जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे' कविता के दूसरे प्रारूप में प्रेमिका क्रांति में रूपांतरित हो जाती है, लेकिन तब, जब वह इतिहास की प्रक्रियाओं से जुड़ती है और युग-निर्माण के संघर्ष के पथ पर आगे बढ़ती है। कवि से उसका साथ भी संघर्ष में ही हुआ है। 'जड़ीभूत ढाँचों से लड़ेंगे' शीर्षक प्रगीत में भी प्रेमी-प्रेमिका पति-पत्नी नहीं। यह एक विलक्षण प्रगीत है, जिसमें प्रेमी प्रेमिका से कहता है कि यदि संघर्ष में तुम मर गईं, तो तुम्हारे पति को हृदय का रक्त देकर मैं जिलाऊँगा और यदि मैं हार गया, तो मेरे घर जाकर मेरी पत्नी को तुम मेरा संदेश देना कि वह अपने पैरों पर खड़ी होकर जिए। मुक्तिबोध का प्रेम वस्तुतः 'कर्मण्य' है। इतिहास-प्रक्रिया में हिस्सेदारी ही उन्हें अपनी प्रेमिका से मिलाती है; यही प्रक्रिया उन्हें निकट से निकटतर लाती है।

'मालव-निर्झर की झर-झर कंचन-रेखा' उनकी एक महत्त्वपूर्ण लंबी कविता है, जिसके पूर्वार्ध में उन्होंने माधुर्य की स्थापना की है और उत्तरार्ध में प्रेम-वर्णन किया है। यह प्रेम जीवन की चिंताओं से उलझते हुए कर्म-क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है। यह मानव-युग की कंचन-रेखा और उस भावी की मिठास है, जोकि अवश्यंभावी है! यह जैसे विस्तृत रेगिस्तान में मीठे पानी की झील है, जिसके गिर्द मानव-अंतर की सभ्यता-जैसा मरूद्यान विकसित हुआ हो। उस आंतरिक सभ्यता का इतिहास वीरकाव्यों, प्रेमाख्यानकों और ललितविस्तर तथा गुणाढ्य की बृहत्कथा-जैसे कालजयी ग्रंथों में अंकित है। 'मानवीय माधुर्य-क्षणों की द्राक्षलता'—यह मुक्तिबोध की प्रेम की परिभाषा है ! कविता के प्रेमी-प्रेमिका के मन में यही प्रेम विकसित हुआ है, समान भाववाले दो व्यक्तियों में सर्वथा मानवीय धरातल पर। यह कवि की प्रेमिका का व्यक्तित्व-परिवर्तन कर देता है। अब उसके भीतर जीवन की गहरी धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं, जबकि धन-सत्ता पर आधारित व्यवस्था में बाहर लोगों का दैनिक जीवन बहुत ही 'उथला' था। वह इस द्वैत को मिटा देने के लिए किए जानेवाले प्रयत्नों को आगे बढ़ाने के लिए तैयार हो जाती है, जिससे कवि को उसका भवितव्य बहुत भीषण दिखलाई पड़ने लगता है। आगे उसने कहा है कि प्रेम में प्रेमी-प्रेमिका दोनों को एक दूसरे में नए मनुष्य का साक्षात्कार हुआ। यह साक्षात्कार व्यक्तित्व-बोध से अनिवार्य रूप से जुड़ा था। कविता में अंतिम खंड में उनके प्रेमजनित आत्म-विस्तार का वर्णन है, जिसमें वे एक बेचैन मानवीय संवेदना में रूपांतरित या विसर्जित हो जाते हैं। 'कल जो हमने चर्चा की थी' शीर्षक कविता में भी कवि की प्रेम-भावना इतिहास-बोध से संपृक्त हो जाती है। प्रेमी-प्रेमिका इतिहास-बोध से प्राप्त आशावाद के तीक्ष्ण आलोक में मिलते हैं ! आकस्मिक नहीं

कि मुक्तिबोध की प्रेमिका का लावण्य 'तेजस्वी' है और मधुरता 'तेजस्विनी'। प्रेम को यह तेजस्वी रूप आत्मविस्तार से ही प्राप्त हो सकता है, आत्मकेंद्रण से नहीं। 'अँधेरे में' कविता में काव्य-नायक जब जनक्रांति का स्वप्न देखकर जगता है, तो कहता है : 'मानो कि कल रात किसी अनपेक्षित क्षण में ही सहसा/प्रेम कर लिया हो मनोहर मुख से/ जीवन-भर के लिए!!' अन्यत्र मुक्तिबोध ने जैसे प्रेमिका को क्रांति में रूपांतरित कर दिया है, वैसे ही यहाँ क्रांति को प्रेमिका में।

प्रेम की तरह प्रकृति भी श्रेष्ठ कविता का एक विषय है। मुक्तिबोध ने स्वतंत्र रूप से प्रकृति की कविता नहीं लिखी, लेकिन प्रकृति से उनका गहरा सरोकार था। वह उनके व्यक्तित्व का अनिवार्य अंग थी, इसलिए उसके बिना वे न कुछ अनुभव कर सकते थे, न कोई सृजन। जैसे जीवन-धारण के लिए प्रकृति आवश्यक है, वैसे ही वह उनके लिए सौंदर्यात्मक दृष्टि के लिए थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूरदास की आलोचना के प्रसंग में संकेतित किया है कि उन्होंने प्रकृति को वर्ण्य विषय नहीं बनाया, लेकिन अलंकार के रूप में उसका विस्तृत उपयोग कर उसकी कसर बहुत कुछ पूरी कर दी है। मुक्तिबोध के सम्बंध में यह बात इतने सरल ढंग से नहीं कही जा सकती है, क्योंकि उनकी कविता में अलंकार्य-अलंकार अथवा साध्य-साधन का भेद पुराने कवियों की तरह स्पष्ट नहीं है। वे आधुनिक युग के अत्यंत जटिल संवेदनावाले कवि थे, इसलिए उनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों में मनुष्य और प्रकृति का अत्यंत जटिल सम्मिश्रण है। यह ठीक है कि उनमें वर्णन के क्रम में भी प्रकृति के इस तरह के स्वतंत्र चित्र—

> बावड़ी की इन मुँडेरों पर
> मनोहर हरी कुहनी टेक
> बैठी है टगर
> ले पुष्प-तारे श्वेत

कम ही मिलते हैं, लेकिन प्रकृति उनकी चेतना में इस कदर व्याप्त है कि उसके बिना उनके लिए किसी सुंदर जगत् क्या, किसी सुंदर वस्तु की कल्पना करना भी असंभव है। उसके कठोर और कोमल, ओजस्वी और मधुर दोनों ही रूप उन्हें प्रिय हैं और उनका मन उन दोनों में रमता है।

'लाल सलाम' मुक्तिबोध की आरंभिक कविताओं में से है। उसकी ऐसी पंक्तियों में हमें साधन के रूप में प्रकृति का बहुत ही सरल इस्तेमाल देखने को मिलता है, 'फासिस्टों की अंधकार-मेघों की सेना चीर/चलीं हजारों लाल किरण-सरिताएँ तीव्र अधीर।' लेकिन इसी समय की कविता 'प्रथम छंद' में जब अपने देश में एक शक्ति के रूप में उभरनेवाले मजदूरों के बारे में हम उन्हें यह

कहते हुए देखते हैं कि 'अंजन-श्याम निविड मेघों ने/नील मलयगिरि की ग्रीवा को/सघन वक्ष-बंधन में जकड़ा।/कही कान में युग-युग से जलती दावा-सी अपनी पीड़ा', तो यह पाते हैं कि न केवल अलंकार बदल गया है, बल्कि प्रकृति के इस्तेमाल का ढंग भी बदला है। अब प्रकृति प्रचलित अर्थ में साधन के रूप में प्रयुक्त नहीं है, बल्कि एक स्वतंत्र चित्र है और उसी से कवि के अभिप्राय की व्यंजना होती है। यह चीज और अच्छे ढंग से इस दौर की मुक्तिबोध की वृक्ष पर लिखी गई दो प्रगीतात्मक कविताओं–'हरे वृक्ष' और 'बबूल'–में दिखलाई पड़ती है। हरे वृक्ष और बबूल दोनों कवि के लिए प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण कर लेते हैं, लेकिन ये प्रतीक की तरह प्रयुक्त नहीं हैं। इस तरह ये साध्य भी हैं और साधन भी। 'दमकती दामिनी' शीर्षक कविता में भी दामिनी कवि को क्रांति की प्रेरणा देती है, लेकिन वह उस कविता में अपने पूरे सौंदर्य के साथ अवतरित हुई है।

'ओ विराट् स्वप्नो' शीर्षक कविता में मुक्तिबोध ने क्रांति का जो वर्णन किया है, वह इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि उनकी संवेदना में मनुष्य और प्रकृति अथवा प्रकृति और मनुष्य एक दूसरे से बिलकुल गुँथे हुए थे। यहाँ क्रांति के अप्रस्तुत के लिए प्रकृति को लाया गया है, लेकिन स्वयं उसका वर्णन मानवीय उपकरणों के सहारे किया गया है। धूप खँडहर को उस तरह प्रकाशित करती है, जिस तरह ज्ञान अज्ञान को; पीपल का पेड़ उस तरह बढ़कर खड़ा है, जिस तरह विद्रोहपूर्ण यौवन; पीपल के साथ मौलसिरी और नीम के पेड़ भी नंगी जाँघों और भरे हुए वक्षोंवाले हैं; लतिकाएँ मजदूरों के काले पैरों की रक्त-शिराओं की तरह आपस में उलझी हुई हैं; नए पत्ते और नन्हे फूल नए ज्ञान की मधुर शक्ति में हँसते हुए खिले हैं और सुरभि रक्त की तरह हृदय में घूमती है ! 'नक्षत्र-खंड' शीर्षक कविता में भी मुक्तिबोध ने मनुष्य और प्रकृति के संयोग से अपने अभीप्सित विश्व का चित्र प्रस्तु किया है। उसमें यह संयोग नक्षत्रों को मानवीय व्यक्तित्व प्रदान करने में दिखलाई पड़ता है, यथा 'स्नेह-आश्लेषा', 'मुग्ध चित्रा' और 'शुभ्र-स्मिता आर्द्रा'!

सुगंधवाले फूल तो मुक्तिबोध को प्रिय हैं ही, खँडहर और फूलों का संयोग भी उन्हें प्रिय है। इस कारण उससे निर्मित चित्र उनकी कविताओं में बार-बार आता है। 'अँधेरे में' भी वे कहते हैं 'मानो खँडहर-प्रसारों में उद्यान/गुलाब-चमेली के, रात्रि-तिमिर में,/महकते हों, महकते ही रहते हों हर पल।' इसमें शिशु 'सूरजमुखी फूल-गुच्छे' में रूपांतरित हो जाता है और मजदूर भी कवि को 'काले गुलाब व स्याह सिवंती' के रूप में याद आते हैं! इस कविता में एक राजनीतिक पर्चे का वर्णन है, जिससे ऐसा लगता है कि उसे प्रकृति ने ही तैयार किया है :

आसमान झाँकता है उन स्याह लकीरों के बीच-बीच
वाक्यों की पाँतों में आकाश-गंगा-सी फैली
शब्दों के व्यूहों में झिलमिल नक्षत्र
और उन तारक-दलों में तो खिलता है आँगन
जिसमें कि चंपा के फूल चमकते
और उन पुष्पों के अंतस्तल में
प्राण-समस्या का कोई हल है।

इस चित्र में मुक्तिबोध ने आकाश और पृथ्वी तथा नक्षत्र और पुष्प दोनों को मिला दिया है। आकाश, आकश-गंगा, नक्षत्र और चंपा के पुष्प अलग-अलग किन्हीं वस्तुओं के उपमान नहीं। ये सब मिलकर जिस चित्र का निर्माण करते हैं, वह राजनीतिक पर्चे का उपमान है! स्वभावतः वह हमारे मन को अधिक प्रभावित करता है। जो बात लक्ष्य करने योग्य है, वह यह कि 'पुष्पों के अंतस्तल में प्राण-समस्या का कोई हल है।' गहन समस्या का हल तो राजनीतिक पर्चे में है, लेकिन मुक्तिबोध ने पर्चे और पुष्पों मे कोई अंतर नहीं रखा। उनकी संवेदना में राजनीति और प्रकृति भी इस कदर घुल-मिल गई थीं। यह 'प्रकृति-चित्रण पर सामाजिक विचारधारा की छाप' नहीं, बल्कि सामाजिक विचारधारा पर प्रकृति के सौंदर्य की छाप है!

कभी-कभी मुक्तिबोध ने प्रकृति का पात्र के रूप में इस्तेमाल किया है। 'आ-आकर कोमल समीर' और 'गीत'-जैसी प्रगीतात्मक कविताओं में ही नहीं, 'एक टीले और डाकू की कहानी' अथवा 'चंबल की घाटी में'-जैसी लंबी कविता मे भी वायु एक पात्र है। प्रगीतात्मक कविताओं में वायु कोमल है, जबकि अन्य दोनों कविताओं में कठोर। इस तरह वायु के दोनों ही रूप पात्र के रूप में प्रयुक्त हैं, या कहें कि मुक्तिबोध ने उसे कोमल और कठोर दोनों ही भूमिकाओं में अपने काव्य-नाटक में उतारा है। उनके प्रकृति-चित्रों पर गौर करने से पता चलता है कि उनकी दृश्य-संवेदना और संवेदनाओं की तुलना में अधिक प्रबल थी। इसी कारण वे प्रकृति की गति-विधियों का सूक्ष्मता से तो अंकन करते ही हैं, उनके रंगों पर विशेष ध्यान देते हैं, वे रंग हलके हों, या गहरे; परिवर्तनशील हों, या स्थायी। हिन्दी में उन्हें निराशा और संत्रास के कवि के रूप में प्रचारित किया गया है, जबकि वे क्रांति और प्रेम तथा संघर्ष और सौंदर्य दोनों के अप्रतिम कवि हैं!

छायावाद-काल में निराला ने एक लेख लिखकर कवियों से यह आग्रह किया था कि वे अपनी कविता में विराट् चित्रों का निर्माण करें। प्रकारांतर से उन्होंने उसका आधार बतलाया था विचारों की व्यापकता। नई कविता के दौर में चूँकि अनेक कवियों का आदर्श था 'लघुमानव', इसलिए विराट् की जगह लघु चित्रों

के निर्माण पर बल दिया गया। यह लघुमानव समूह से अलग जा पड़ा तुच्छ और नगण्य मनुष्य था, इतिहास की धारा को मोड़नेवाला नहीं, उसके प्रवाह में पतित तृण, इसलिए स्वभावतः कविता से उदात्तता का लोप होने लगा। नई कविता के एक बड़े हिस्से पर पश्चिमी बिंबवाद का भी गहरा असर था, जिसमें कविता को लघुचित्रात्मक और कठोर बनाने की बात कही गई थी। भावावेग और कल्पनाशीलता दोनों को रूमानी बतलाकर उनका बहिष्कार किया गया। इन परिस्थितियों में अकेले मुक्तिबोध कविता में उदात्तता के चित्रण का आग्रह करते रहे। इस प्रसंग में 'काव्य : एक सांस्कृतिक प्रक्रिया' शीर्षक अपने लेख में उन्होंने नई कविता की जो कठोर आलोचना की है, वह स्मरणीय है। उन्होंने कहा कि नई कविता में आवेश के पंख काट दिए गए; कल्पना को अपने पिंजड़े में पालकर रखा गया; उसे मानव-जीवन को मूर्त और साक्षात् करनेवाली रचनात्मक शक्ति के रूप में उपस्थित नहीं किया गया, क्योंकि वह एक विशेष प्रकार की भद्रजनोचित सौंदर्याभिरुचि के फ्रेम के खिलाफ़ जाती थी। व्यक्ति-मन की बात करके आत्मा की महान् दुर्दम, विप्लव-कारिणी ज्ञानमूलक शक्ति को भुला दिया गया। लघुमानव के सिद्धांत का प्रचार किया गया। संक्षेप में, विषमह्रासग्रस्त सभ्यता को उलटनेवाली महान् भावनाओं को परित्यक्त करके तथाकथित आधुनिक भाव-बोध को उद्घोषित किया गया! इसमें कोई शक नहीं कि मुक्तिबोध ने अपने आदर्शों के अनुरूप अत्यंत उदात्त काव्य की सृष्टि की, जिसमें उनकी कविताएँ प्रगतिवादी कविता के ढाँचे को भी तोड़कर आगे निकल गईं। प्रगतिवादी कविता में यथार्थ-चित्रण की जो प्रवृत्ति थी, वह उसे बहुत ऊँचे नहीं उठने देती थी। मायकोव्स्की ने इस प्रवृत्ति को *'निम्नोन्मुख यथार्थवाद' कहकर खारिज किया था।* मुक्तिबोध ने उसका भी अतिक्रमण किया और अपनी कल्पना को फैंटेसी तक उठा दिया। अकारण नहीं कि उनकी उपेक्षा नई कविता और प्रगतिशील कविता दोनों शिविरों में हुई।

दृष्टिकोण की व्यापकता के लिए मुक्तिबोध यह आवश्यक मानते थे कि व्यक्ति में ऐतिहासिक अनुभूति हो, यानी वह तमाम चीजों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करे। 'सुमित्रानंदन पंत : एक विश्लेषण' शीर्षक अपने समीक्षात्मक लेख में वे कहते हैं कि ऐतिहासिक अनुभूति वह कीमिया है, जो मनुष्य का सम्बंध सूर्य के विस्फोटकारी केंद्र से स्थापित कर देती है। वह जादू है, जो मनुष्य को यह महसूस कराता है कि विश्व-परिवर्तन की मूलभूत प्रक्रियाओं का वह सारभूत अंग है। ऐतिहासिक अनुभूति के द्वारा मनुष्य के अपने आयाम असीम हो जाते हैं—उसका दिक् और काल अनंत हो जाता है ! ओजस्विता मुक्तिबोध की कविताओं का स्वभावजात गुण मालूम पड़ती है, लेकिन जैसे-जैसे वे समाजवादी विचारधारा को आत्मसात् करते जाते हैं, यह गुण उत्कर्ष को प्राप्त करता जाता है। 'तार सप्तक' में संकलित

उनकी कविताओं में भी यत्र-तत्र ओजस्विता के दर्शन होते हैं, लेकिन वह शक्तिशाली रूप में प्रकट होती है, उसके बाद की कविताओं में। बाद की कविताओं में वह उदात्त के स्तर को छूने लगती है और धीरे-धीरे उनका काव्य-लोक अत्यंत उदात्त हो उठता है।

'सूखे कठोर नंगे पहाड़' शीर्षक कविता में ये पहाड़ पूँजीवादी व्यवस्था का प्रतीक हैं। इसमें कवि महाश्रमिक से आग्रह करता है कि वह इन्हें उठाकर समुद्र यानी काल-प्रवाह में फेंक दे। उसके बाद का यह विराट् चित्र दर्शनीय है : '*उत्तुंग कठिन नंगे पहाड़/का जलधि-विदारक अधःपतन*'। '*जलधि-विदारक*' शब्द पर हमारा ध्यान जाना चाहिए जोकि चित्र की विराटता को मूर्त करता है। इसी कविता में यह कामना की गई है कि 'उद्दाम प्रगति के श्वेत-नील नक्षत्रों की नव विजय हेतु' संसार-भर के मजदूरों के करोड़ों हाथ पृथ्वी से लेकर नक्षत्रों तक सैकडों सेतुओं का निर्माण करें। अंतर्राष्ट्रीयता मुक्तिबोध के चित्रों को उदात्तता प्रदान करनेवाली खास चीज है। 'जिंदगी का रास्ता' शीर्षक कविता में यह रामू-जैसे मामूली कर्मचारी को भी 'सत्य की शक्ति' और 'हिम्मत की राह' देती है और ऐसे उदात्त चित्र का निर्माण संभव होता है :

> याँगटीज की बलशाली, अनुभव-गभीर
> अंतःस्पर्शिनी बल खाती लहरें
> हिए के निभृत शैल-विवर सहलाती हुई
> कगारों को हिलाती-गुँजाती हुई
> मलाया के अरण्य-प्रदेशों के घनच्छाय
> मनोहर वृक्षों के घनघोर
> गीतों की ऊँची उठती लय में
> रामू के हियरे में तूफानी भव्यतम
> संगीत जगा गई।

'मेरे सहचर मित्र' शीर्षक कविता में कवि के मित्र ने उसे मार्क्सवाद की शिक्षा देकर उसका आकार अपने से भी बड़ा कर दिया था, जैसे उसने उसे अपने कंधों पर खड़ाा करके आसमान तक पहुँचा दिया था, जिससे कि 'मैं स्याह चंद्र का फ्यूज बल्ब/जल्दी निकाल/पावन प्रकाश का प्राण-बल्ब/वह लगा सकूँ', जिसे उसने विक्षुब्ध जिंदगी की अपनी प्रयोगशाला में तैयार किया था! इसी तरह का एक विराट् चित्र 'एक स्वप्न-कथा' शीर्षक कविता में भी मिलता है, जिसमें 'सागर की थाहों में पैर टिका देता है पर्वत-आकार का/देव भयानक,/उठ खड़ा होता है।/सागर का पानी, सिर्फ उसके घुटनों तक है,/पर्वत-सा मुखमंडल आसमान

छूता है/अनगिनत ग्रह-तारे चमक रहे, कंधों पर।/लटक रहा एक ओर/चाँद कंदील-सा/मद्धिम प्रकाश-रहस्य फैला है सभी ओर।' यह देव कोई चमत्कारी कल्पना न होकर इतिहास-पुरुष है, जोकि ऐतिहासिक विकास का अर्थ बतलाता है। मुक्तिबोध की प्रायः सभी लंबी कविताएँ विराट् चित्रों और ओजस्वी वर्णनों से भरी हैं।

ओजस्विता उन्होंने कई प्रकार से उत्पन्न की है। कहीं 'लहरदार रफ्तार, स्याह बिजली' के चित्रण के द्वारा, जैसे 'ओ काव्यात्मन् फणिधर' कविता में, और कहीं, जो गतिशील है, उसे स्थिर बनाकर, जैसे 'ओ विराट् स्वप्नो' कविता में, जिसमें काली ठंढी चट्टानें ऐसी दिखलाई पड़ती हैं, जैसे किसी सुविशाल सिंधु की लहरें जम गई हों! कहीं-कहीं उन्होंने मामूली समझी जानेवाली चीजों से अत्यंत भव्य चित्र का निर्माण किया है, यथा 'अँधेरे में' में, 'आत्मा के चक्के पर चढ़ाया जा रहा/संकल्प-शक्ति के लोहे का मजबूत/ज्वलंत टायर!!', और 'मैं तुमलोगों से दूर हूँ' में, 'जो है उससे बेहतर चाहिए/पूरी दुनिया साफ करने के लिए मेहतर चाहिए'। इनमें 'टायर' ने तो उदात्तता प्राप्त की ही है, मेहतर की छवि भी इतिहास-पुरुष की तरह विराट् हो गई है। ऊपर 'अँधेरे में' में ही वर्णित एक राजनीतिक पर्चे का जिक्र यथास्थान किया जा चुका है, यहाँ 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता में मजदूरों की हड़ताल से सम्बंधित लाल-नीले अक्षरों में लिखे एक पोस्टर का चित्र देखने लायक है, जिसे कोई रात में बरगद के तने पर चिपकाता है :

> अँधेरे के पेट में से
> ज्वालाओं की आँत बाहर निकल आय
> वैसे, अरे शब्दों की धार एक
> बिजली की टॉर्च की रोशनी की मार एक
> बरगद के खुरदुरे अजगरी तने पर
> फैल गई अकस्मात्।

उदात्तता सत्य और न्याय की शक्तियों के चित्रण में ही नहीं होती, उनकी पक्षधरता के साथ किए गए मानव-विरोधी शक्तियों के चित्रण में भी होती है, यथा 'जमाने का चेहरा' का यह चित्र : 'दुनिया की पीठ पर/ भीतर गड़ाए हुए आठों पैर बैठा है/विकराल कर्क एक/'हवाई एटमिक अड्डों के अमरीकी जाल का/जिंदगी की खाल ओढ़ मौत के बवाल का'।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि मुक्तिबोध की कविता का मूल चरित्र 'हीरोइक' है, फिर भी उन्होंने जहाँ कोमल संवेदनाओं की अभिव्यक्ति

की है, वहाँ उनके चित्र स्वाभाविक रूप से 'उदात्त' की जगह 'सुंदर' हो गए हैं। वहाँ गुंजान शून्य में भी ताजे गुलाब के फूल चमकने लगे हैं और चंपा की डालों में नीला आकाश फँसा रह गया है! उनकी लंबी कविताओं की सफलता का यह बहुत बड़ा रहस्य है कि उनमें भी बीच-बीच में हमें प्रगीतात्मक कविता के खंड, सुंदर चित्रों के साथ, पिरोए मिलते हैं।

ऊपर कहा गया है कि मुक्तिबोध की कल्पना फैंटेसी तक उठी है। यह सच है। पौराणिक गाथाओं, लोककथाओं और साहित्य में फैंटेसी का इस्तेमाल शुरू से होता आ रहा था, लेकिन यथार्थवादी आंदोलन के दौर में उसे संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा। साहित्य में यथार्थवादी पद्धति को चित्रण की इतिवृत्तात्मक शैली का पर्याय बना दिया गया और यथार्थ के साक्षात्कार का मतलब हुआ यथार्थ का यथावत् चित्रण। हिन्दी कविता के प्रसंग में फैंटेसी की चर्चा मुक्तिबोध के प्रथम कविता-संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' के प्रकाशन के साथ शुरू हुई। जो बिंब यथार्थ को अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने के लिए कविता में प्रयुक्त हुआ था, बिंबवाद तक उसका आग्रह बढ़ जाने के कारण उसके विरुद्ध एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई और अब सपाटबयानी की माँग की गई। इसीका परिणाम है कि आज भी ऐसे लेखकों की कमी नहीं, जो मुक्तिबोध के बारे में यह धारणा रखते हैं कि उन्होंने यथार्थ का प्रत्यक्ष रूप से सामना नहीं किया। तात्पर्य यह कि उन्होंने यथार्थ से आँखें न मिलाकर फैंटेसी की ओट से उसे देखा है! इस संबंध में ज्ञातव्य है कि यथार्थ-चित्रण का कोई 'फार्मूला' नहीं हो सकता, जो निर्दोष और पवित्र हो। स्वभावतः संसार के महान् यथार्थवादी लेखकों ने यथार्थवाद और फैंटेसी के बीच विरोध-भाव देखने-जैसी गलतफहमी को दूर करने का भरसक प्रयास किया है। ब्रेख्त यथार्थवाद को कोई संकीर्ण चीज नहीं, बल्कि दृष्टि का विस्तार मानते हैं। उन्होंने कहा है कि यथार्थ एक बहुत ही विस्तृत, वैविध्यपूर्ण और विरोधात्मक वस्तु है और सत्य को कहने के वैसे ही हजार तरीके हैं, जैसे उसे छिपाने के! चूँकि यथार्थ स्वयं वैविध्यपूर्ण और जटिल होता है, इसलिए साहित्य का भी वैसा होना लाजिमी है। इस तरह कलात्मक प्रयोगों की बहुलता का स्रोत स्वयं यथार्थ है। उसके साथ यह भी सही है कि प्रत्येक लेखक यथार्थ को वैयक्तिक ढंग से जानता और आत्मसात् करता है, जिससे उसके चित्रण में वैविध्य आ जाता है।

किसी कलाकृति का निर्माण न मात्र यथार्थ-बोध से संभव है, न यथार्थानुकृति से। यथार्थ-बोध के बाद यह आवश्यक है कि उससे ऊपर उठकर कल्पना के आकाश में यथार्थ का 'साक्षात्कार' किया जाए। इस तरह यथार्थ और कल्पना के मिश्रण से निर्मित वस्तु ही कलाकृति हो सकती है। इतिवृत्तेर शैलीवाली कविताओं में कल्पना की भूमिका कुछ अधिक ही होती है, लेकिन ऐसा नहीं है कि उसी अनुपात

में वे कविताएँ यथार्थ से हटती जाती हैं। इसके विपरीत सच्चाई यह है कि यदि कल्पना का सही इस्तेमाल हुआ, जैसा फैंटेसीवाली श्रेष्ठ कविताओं में दिखलाई पड़ता है, तो वही यथार्थ में अंतःप्रवेश करके उसका असली रूप दिखलाती है। यहाँ नेरूदा का यह कथन स्मरणीय है कि वह कवि भी मृत है, जो यथार्थवादी नहीं और वह कवि भी, जो सिर्फ यथार्थवादी है। जो कवि सिर्फ अबौद्धिक है, वह अपने और अपने प्रेमी के द्वारा ही समझा जा सकेगा, जोकि एक बहुत दुःखद बात होगी और जो कवि सिर्फ बौद्धिक होगा, वह गधों द्वारा भी समझ लिया जाएगा, जोकि एक भयानक रूप से दुखद बात होगी! चित्रण की इतिवृत्तात्मक शैली के समर्थक प्रामाणिकता तथा संभाव्यता की दुहाई देते हैं और कलात्मकता तथा 'आविष्कार' को उनका विरोधी बतलाते हैं। वास्तविकता यह है कि सजीव बिंबों में, भले वे फैंटास्टिक हों, उबाऊ इतिवृत्तात्मक वर्णन से अधिक संभाव्यता होती है। ताज्जुब नहीं, यदि दोस्तोव्स्की ने यह कहा कि जिसे अधिकांश लोग फैंटास्टिक और असाधारण समझते हैं, मेरे लिए वह यथार्थ का सारभूत अंश होता है। यह कल्पना और फैंटेसी केवल रचना-सामग्री को संयोजित करने के लिए आवश्यक नहीं है, वह जीवन-यथार्थ और जीवनानुभवों को कलात्मक बिंबों में रूपांतरित करनेवाली सृजन-प्रक्रिया का अविभाज्य अंग है।

स्वयं मुक्तिबोध ने भी 'कामायनी : एक पुनर्विचार' के आरंभ में फैंटेसी पर विचार किया है और कहा है कि इसके अंतर्गत भाव-पक्ष प्रधान और विभाव-पक्ष गौण तथा प्रच्छन्न होता है और भाव-पक्ष कल्पना को उत्तेजित करके बिंबों की रचना करते हुए एक ऐसा मूर्त विधान उपस्थित करता है, जिसमें उस विधान के अपने ही नियम सक्रिय होते हैं। इस मूर्त विधान में विभाव-पक्ष मात्र सूचित और ध्वनित होता है, लेकिन उसके बिना उस मूर्त विधान का जीवन-महत्त्व प्रोद्भासित ही नहीं हो सकता। उन्होंने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि आखिर फैंटेसी की शैली कोई कवि अपनाए ही क्यों? इसका उत्तर उन्होंने यह कहकर दिया है कि उससे वह वास्तविकता के सारभूत निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुए उसके प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है। निश्चय ही रचना में फैंटेसी के प्रयोग के और गहरे कारण होते हैं। बहुत बार यह दुनिया जैसी दिखलाई पड़ती है, वैसी नहीं होती। उसके दिखलाई पड़नेवाले रूप और असली रूप में स्तब्ध कर देनेवाला अंतर्विरोध होता है। तथ्य यथार्थ को छिपा लेते हैं। ऐसी स्थिति में फैंटेसी के जरिए ही उसके असली रूप को दिखलाया जा सकता है। अर्न्स्ट फिशर ने लिखा है कि कल्पना द्वारा यथार्थ का यह उद्घाटन पाठकों को बिजली के झटके की तरह लगता है, लेकिन बिना इस झटके के उन्हें 'अवास्तविक' दुनिया की वास्तविकता का ज्ञान कराया नहीं जा सकता।

मुक्तिबोध का ध्यान फैंटेसी से पैदा होनेवाली असुविधाओं पर भी था। वे आगे कहते हैं कि फैंटेसी का प्रयोग कुछ विशेष असुविधाएँ भी उत्पन्न करता है, जिनमें से एक यह है कि फैंटेसी में कभी-कभी जीवन-तथ्य इस प्रकार प्रस्तुत होते हैं कि उन्हें पहचानना भी मुश्किल होता है। यहाँ तक कि कभी-कभी उनका क्रम स्थापित करने में भी कठिनाई होने लगती है। प्रतीकात्मक रूप से प्रस्तुत होने के कारण जीवन-तथ्य अधिकतर अनुमान–'संवेदनात्मक अनुमान'–से ही पहचाने जा सकते हैं। फैंटेसी एक झीना परदा है, जिसमें से जीवन-तथ्य झाँक-झाँक उठते हैं। उसका ताना-बाना कल्पना-बिंबों में प्रकट होनेवाली विविध क्रिया-प्रतिक्रयाओं से ही बना हुआ होता है। दूसरे शब्दों में, तथ्यों का उद्घाटन अत्यंत गौण और विकारपूर्ण होता है और उनके प्रति की गई क्रिया-प्रतिक्रियाएँ ही प्रधान होती हैं। अपने इस कथन में मुक्तिबोध ने फैंटेसी को ग्रहण करने की प्रक्रिया का संकेत किया है और उसके लिए एक नया शब्द गढ़ा है–'संवेदनात्मक अनुमान'। यह रचना में पाठकों की सक्रिय भागीदारी का सूचक होता है। फैंटेसी पाठकों की कल्पना-शक्ति को भी उत्तेजित कर देती है, जिससे रचना उनके लिए कोई बना-बनाया माल न रहकर एक सजीव और गतिशील वस्तु हो उठती है। उस स्थिति में पाठकों को जो दिया जाता है, वे वही नहीं ग्रहण करते, बल्कि जो ग्रहण करते हैं, वह बहुत कुछ उनकी अपनी भी सृष्टि होता है। इस तरह रचना उनके लिए परिणाम न रहकर एक प्रक्रिया हो जाती है। कहने की आवश्यकता न होनी चाहिए कि मुक्तिबोध के आस्वादन या मूल्यांकन में तभी कठिनाई पैदा होती है, जबकि उन्हें 'संवेदनात्मक अनुमान' की जगह ठोस ज्ञान से ग्रहण करने की कोशिश की जाती है। अनुमान को जहाँ कल्पना के पंख लगे होते हैं, वहाँ ज्ञान तथ्यों के खूँटे से बँधा होता है!

इसमें कोई संदेह नहीं कि मुक्तिबोध हिन्दी के सर्वाधिक कल्पनाशील कवि हैं। हिन्दी के कवियों में सुमित्रानंदन पंत को 'कल्पना का लाड़ला' कहा जाता है, लेकिन कल्पना को मुक्तिबोध की सृजन-प्रक्रिया में जो स्थान प्राप्त है, वह पंतजी की सृजन-प्रक्रिया में नहीं। पंत-काव्य में कल्पना की विधायक भूमिका कम ही दिखलाई पड़ती है, ज्यादातर तो उसमें 'फैंसी' के दर्शन होते हैं, जबकि मुक्तिबोध की कविताओं में कल्पना प्रायः फैंटेसी के रूप में सामने आती है। मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में यत्र-तत्र बतलाया है कि उनमें कल्पना का इतना अधिक उपयोग क्यों है। कल्पना वस्तुतः उनके लिए कवि-क्रीड़ा का कोई साधन न होकर यथार्थ को बेहतर रूप में समझने का माध्यम है, जिसके सही इस्तेमाल की अपनी कठिनाइयाँ हैं। एक कविता में वे कहते हैं :

> कल्पना की दीप्ति में आगत खुला है,
> वास्तविकता मूर्त है, ऊर्जस्वला है!!

> वास्तविकता को उठाकर देखने का चीमटा है कल्पना
> वह परखने-निरखने का लेंस,
> सच-सही उसको जमाना-साधना
> है जरा मुश्किल!!

'तार सप्तक'-काल के बाद से ही मुक्तिबोध अपनी कविताओं में किंचित् बृहत् स्तर पर कल्पना का इस्तेमाल करते आ रहे थे। उदाहरण के लिए उनकी 'दमकती दामिनी' और 'एक नीली आग'-जैसी कविताएँ देखी जा सकती हैं। पाँचवें दशक की समाप्ति के साथ उनकी कल्पना फैंटेसी की हदों को छूने लगती है। जैसे-जैसे जटिल यथार्थ में उनका अंतःप्रवेश होता जाता है, उनकी फैंटेसी सरल से जटिल होती जाती है। इस तरह उनमें फैंटेसी के एक नहीं, कई रूप दिखलाई पड़ते हैं। 'जिंदगी का रास्ता', 'सूरज के वंशधर', 'पीत ढलती हुई साँझ', 'बारह बजे रात के', 'जमाने का चेहरा' आदि उनकी ऐसी कविताएँ हैं, जो इतिवृत्तात्मक शैली में लिखी गई हैं, लेकिन जिन्हें फैंटेसी के एक-दो स्पर्शों से उन्होंने जटिल बना दिया है, या उन्हें एक बृहत्तर परिप्रेक्ष्य प्रदान कर दिया है। उनकी कुछ कविताएँ यथार्थ और फैंटेसी के मेल से तैयार की गई हैं, जैसे 'मेरे सहचर मित्र' और 'इस नगरी में' शीर्षक कविताएँ। कभी—कभी उनकी कविताएँ पूरा रूपक होती हैं और वह रूपक फैंटास्टिक होता है। यह बात 'नक्षत्र-खंड', 'गुँथे तुमसे, बिंधे तुमसे' और 'कल जो हमने चर्चा की थी' शीर्षक कविताओं में देखने को मिलती है। यह रूपक होना उनकी कविताओं को आसान बना देता है। कभी-कभी मुक्तिबोध की फैंटेसी में रूपक और प्रतीक का अद्भुत मिश्रण होता है। इस दृष्टि से उनकी जो कविताएँ उल्लेखनीय हैं, वे हैं 'सूखे कटोर नंगे पहाड़', 'ओ काव्यात्मन् फणिधर', 'ब्रह्मराक्षस', 'एक अरूप शून्य के प्रति', 'दिमागी गुहांधकार का ओरांग-उटांग' आदि। इन सभी कविताओं में फैंटैसी रूपक की शकल में है और वह प्रतीकों के इर्द-गिर्द ही बुनी गई है। जो कविताएँ छोटी हैं, उनमें फैंटेसी का अपेक्षाकृत सरल रूप में इस्तेमाल किया गया है, जबकि लंबी कविताओं में प्रतीक और रूपकों के जटिल प्रयोग से उनकी फैंटेसी भी बहुत कुछ जटिल हो गई है।

फैंटेसी की शैली में रचित मुक्तिबोध की असली कविताएँ कुछ दूसरी हैं। उनमें जो महत्त्वपूर्ण हैं, वे हैं 'भविष्य-धारा', 'चकमक की चिनगारियाँ', 'एक स्वप्न-कथा', 'अँधेरे में' और 'चंबल की घाटी में'। ऐसा नहीं है कि इनमें प्रतीक अथवा रूपक का इस्तेमाल नहीं हुआ, लेकिन ये ऐसी कविताएँ हैं, जो पूरी की पूरी फैंटास्टिक हैं और जिन्हें फैंटेसी के अलावा किसी दूसरे तर्क से नहीं समझा जा सकता। इनके फैंटास्टिक घटनाक्रम पर ध्यान केंद्रित करने से पता चलता

है कि वह न केवल दिलचस्प है, बल्कि कवि की सृजनात्मक प्रक्रिया और उसमें उसकी 'अनियंत्रित' कल्पनाशीलता से भी परिचित कराता है। उसे देखकर फँटैसी को 'स्वप्नबिंब' कहना सार्थक प्रतीत होने लगता है। इस तरह फँटेसी का इस्तेमाल मुक्तिबोध ने वाकई कई रूपों में किया है। कहीं उसका स्पर्श हलका है, कहीं बहुत गहरा; कहीं उसकी बुनावट झीनी है, तो कहीं बहुत प्रगाढ़। कहा जा चुका है कि जहाँ उन्होंने उसका इस्तेमाल रूपक या प्रतीक के रूप में किया है, वह किसी हद तक 'सरलता' की शिकार हुई है। जिन कविताओं में फँटेसी अधिकाधिक स्वाभाविक रूप में दिखलाई पड़ती है, उनमें भी स्थान-स्थान पर मुक्तिबोध का प्रयास रहा है कि उसका अर्थ स्पष्ट होता चले, लेकिन इसके लिए वे सावधान रहे हैं कि उसे इस तरह अनावृत न किया जाए कि उसका सौंदर्य और शक्ति नष्ट हो जाए और वह भी एक रूपक-कथा बनकर रह जाए। उनकी फँटेसी की सफलता का रहस्य इस बात में निहित है कि उसे भी उन्होंने यथार्थ की तरह चित्रित किया है, जैसे यथार्थ को फँटेसी के रूप में। इस फँटेसी ने निश्चय ही उनकी कविता को अत्यंत नाटकीय बना दिया है, जिससे उसकी प्रभावोत्पादकता बहुत बढ़ गई है।

कहा जाता है कि मुक्तिबोध की काव्य-भाषा 'अनगढ़' है। ऐसा कहनेवाले विद्वानों को उनकी 'प्रथम छंद', 'दमकती दामिनी', 'एक नीली आग', 'हरे वृक्ष' और 'नीम-तरु के पात'—जैसी आरंभिक कविताएँ देखनी चाहिए, जिनमें उच्च कोटि की सुगढ़ता है। लेकिन यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि कवि के निजी आवेग और तन्मयता के बावजूद उनमें छायावादी, प्रगतिशील और प्रयोगवादी और नई कविता की अनुगूँजें सुनाई पड़ती हैं। धीरे-धीरे मुक्तिबोध इस काव्य-भाषा के सुंदर खोल के बाहर निकले और 'ऐ हिंदुस्तानी फटेहाल जिंदादिल जिंदगी/तेरे साथ तेरा यह बंदा नित रहेगा' वाली सरलता और और मस्ती की गलियों से होते हुए भाषा के 'बेहद्दी' मैदान में आ गए, जहाँ 'सुगढ़ता'-जैसी चीज भाषा के लिए कोई बड़ा मूल्य नहीं और जहाँ सौंदर्य शक्ति का पर्याय होता है। उन्होंने प्रतिरोध के स्वर में कहा कि सौंदर्य उच्चवर्गीय सुरुचि में ही नहीं होता, बंजर काले-स्याह पहाड़ में भी एक अजीब वीरान भव्यता होती है, गली के अँधेरे में उगे छोटे-से जंगली पौधे में भी एक विचित्र संकेत होता है! 'अँधेरे में' कविता में यथास्थान उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की समस्या और उसके लिए किए जानेवाले संघर्ष का जिक्र किया है। परंपरागत और प्रचलित भाषा से प्राप्त होनेवाले शब्द भड़कीले होते हुए भी उनकी मनोवांछित क्रांतिकारी कविता की रचना के लिए अनुपयुक्त थे। असह्य सृजनात्मक दबाव में आकर ही उन्होंने घोषित किया था कि 'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे/उठाने ही होंगे।/तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब'। निराला के बाद

अकेले इस कवि ने पुरानी अभिव्यक्ति के जितने मठ और गढ़ तोड़े, और किसी कवि ने नहीं। यह उनके खतरे उठाने का ही प्रमाण है कि वे जब तक जीवित रहे, कविरूप में जाने तो गए, पर माने नहीं गए।

आम तौर पर यह समझा जाता है कि मुक्तिबोध की काव्य-भाषा लंबे-लंबे और जटिल वाक्यों से निर्मित उलझी हुई काव्य-भाषा है। इसमें कोई शक नहीं कि उसमें कभी-कभी लंबे वाक्य मिलते हैं, लेकिन वे कवि की अभिव्यक्तिगत असमर्थता का परिणाम नहीं, बल्कि उसकी गहन चिंतनशीलता, व्यापक संवेदना और विराट् कल्पना-शक्ति की देन होते हैं। जैसे बड़े चित्र बड़े मानस में जन्म लेते हैं, वैसे ही बडे वाक्य भी। कभी-कभी उनके वाक्य ऐसे उपमानों के कारण लंबे हो जाते हैं, जो उपमेय से अधिक स्थान घेरते हैं। उनमें वैसी जटिलता नहीं होती। लंबे वाक्योंवाली भाषा से अलग मुक्तिबोध ने जहाँ अपनी कविताओं में गहन चिंतन की अभिव्यक्ति की है, वहाँ उनकी भाषा बहुत संश्लिष्ट हो गई है। जहाँ तक उनके शब्द-प्रयोग की बात है, उनमें संस्कृत शब्दों के साथ 'डागल'-जैसे लोकभाषा के शब्द भी मिलते हैं, जो उनकी संस्कृतनिष्ठ पदावली को प्रस्तरीभूत नहीं होने देते। बेमेल शब्दों का प्रयोग तो वे जान-बूझकर अपनी भाषा की शक्ति बढ़ाने के लिए करते हैं, जैसे 'अंतःकरण का आयतन' कविता में 'तेजस्विनी लावण्य-श्री' के लिए 'शमा' शब्द का प्रयोग : 'शायद शमा कोई अचानक मुसकराई थी'। आवश्यक होने पर वे संस्कृत शब्दों का दामन छोड़कर बिलकुल उर्दू-जैसी भाषा लिख सकते थे, इसका प्रमाण उनकी 'भूल-गलती' शीर्षक कविता है। हिन्दी का प्रांजल रूप भी उनकी कविताओं में अनेकत्र दिखलाई पड़ता है। प्रायः एक ही कविता में कई प्रकार की भाषाओं का प्रयोग कर उनके वैषम्य से वे कविता को अत्यंत प्रभावशाली बना देते हैं। लेकिन अंततः वे भाषा की जिस मंजिल पर पहुँचे, वह हिन्दी की पूर्ववर्ती और समकालीन दोनों काव्य-भाषाओं को नष्ट कर रूप ग्रहण करनेवाली एक नई भाषा की मंजिल है, पूर्णतः 'अकाव्यात्मक'। मैथिलीशरण गुप्त और निराला के बाद हिंदी कविता की भाषा के विकास का यह तीसरा महान् प्रयास है। इस भाषा का एक नमूना नीचे दिया जा रहा है, जिसमें संयोग से मुक्तिबोध की उस बेचैनी का भी वर्णन है, जो ध्वंस के रास्ते उन्हें वस्तुतः नूतन निर्माण तक ले गई :

> यह भीतर की जिंदगी नहाती रहती है
> हिय के विक्षोभों के खूनी फव्वारों में,
> अंगारों में।
> इस दिल के भरे रिवाल्वर में
> बेचैनी जोर मारती है, इसमें क्या शक।

संदर्भ-सामग्री

पुस्तकें

1. मुक्तिबोध रचनावली *(छः खंड) (द्वितीय संस्करण)*
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है : मुक्तिबोध (शमशेर बहादुर सिंह लिखित भूमिका)
3. लक्षित मुक्तिबोध : डा. मोतीराम वर्मा
4 पाया पत्र तुम्हारा : सं. नेमिचंद्र जैन
5 मुक्तिबोध की आत्मकथा : विष्णुचन्द्र शर्मा
6 हम इक उम्र से वाकिफ़ हैं : हरिशंकर परसाई
7. गजानन माधव मुक्तिबोध (विनिबंध) : प्रमोद वर्मा
8. कविता के नए प्रतिमान : डा. नामवर सिंह
9 नई कविता और अस्तित्ववाद : डा. रामविलास शर्मा
10 मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना : नंदकिशोर नवल
11. मुक्तिबोध : सं. डा. विश्वनाथप्रसाद तिवारी
12 निराला और मुक्तिबोध : चार लंबी कविताएँ : नंदकिशोर नवल

पत्रिकाएँ

1. राष्ट्रवाणी (गजानन माधव मुक्तिबोध श्रद्धांजलि अंक, जनवरी-फरवरी, 1965)
2. आलोचना (नवांक 6, जुलाई-सितंबर, 1968)
3. आजकल (स्वर्ण जयंती अंक, मई-जून, 1994)